विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

हिन्दी

त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल - मई - जून

★ १९७१ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य

सह-सम्पादक ● सन्तोषकुमार झा

वार्षिक ४) वर्ष ९ अंक २ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

१.	संग का प्रभाव	१२९
२.	गर्वहारी जनार्दनः (श्रीरामकृष्ण के चुटकुले) ..	१३०
३.	धर्म-साधना (स्वामी माधवानन्द)	१३३
४.	गोलाप-माँ (डा. नरेन्द्रदेव वर्मा)	१४९
५.	गीता प्रवचन - ८ (स्वामी आत्मानन्द) ..	१६३
६.	संगीतज्ञ स्वामी विवेकानन्द (डा. अरुणकुमार सेन)	१८३
७.	आन्ध्र के महान् सन्त कवि वेमना (श्रीमती पुष्पा तिवारी) ..	१८६
८.	मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (शरद्चन्द्र पेंढारकर)	१९२
९.	चौथी जुलाई और स्वामी विवेकानन्द (प्रा. रमेशचन्द्र सिन्हा) ..	१९९
१०.	विवेकानन्द-आविर्भाव की अपूर्वता (राजमाता विजया राजे सिन्धिया) ..	२०६
११.	अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द (प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा)	२१८
१२.	श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक दिन (ब्र. निर्गुण चैतन्य)	२३१
१३.	कौआ चले हंस की चाल (संतोषकुमार झा) ..	२३९
१४.	अथातो धर्मजिज्ञासा	२४५
१५.	आश्रम समाचार	२४८
१६.	रामकृष्ण मिशन समाचार	२५५

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(कोलम्बो में व्याख्यान देते हुए, जनवरी १८९७ ई.)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर–२.

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१३ वीं तालिका)

५२१. श्रीमती राजकुमारी धान, जवाहर नगर, रायपुर।
५२२. प्रधान अध्यापक, प्राथमिक विद्यालय, पेटलावद, झाबुआ।
५२३. प्राचार्य उच्च माध्यमिक विद्यालय, पेटलावद, झाबुआ।
५२४. श्री भोलाराम साहू, सहायक अभियन्ता, मध्यप्रदेश विद्युतमण्डल, अकलतरा।
५२५. श्री प्रधानाध्यापिका, शासकीय कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय, पेटलावद।
५२६. श्री श्रीचन्द छबरिया, सिविल लाइन्स, रायपुर।
५२७. श्री अखिल, सुपुत्र श्री शंकर प्रसाद अग्रवाल, जूना लाइन, बिलासपुर।
५२८. श्री प्रफुल्ल कुमार, ब्राह्मणपारा, आजाद चौक, रायपुर।
५२९. कुमारी विजय कालड़ा, करौलबाग, नयी दिल्ली ५।
५३०. श्री राजाराम यादव, ग्राम सेवक, भानसोज, रायपुर।
५३१. प्रधानाध्यापक, आदर्श सिन्धी विद्यामन्दिर, गोंदिया (भंडारा)।

५३२. प्रधानाध्यापक, नूतन विद्यालय, गोंदिया
(भंडारा) ।
५३३. प्रधानाध्यापक जे. एम. हाईस्कूल, गोंदिया
(भंडारा) ।
५३४. प्रधानाध्यापिका, राजस्थान कन्या विद्यालय,
गोंदिया (भंडारा) ।
५३५. श्रीमूलजी कानजी चावड़ा, टोबेको मर्चेण्ट, कर्नूल,
(आंध्र) ।
५३६. श्री गोपाल नारायण वाजपेयी, सिविल लाइन्स,
गोंदिया (भंडारा) ।
५३७. प्रधानाध्यापक, म. म्यु. हाईस्कूल, गोंदिया
(भंडारा) ।
५३८. प्रधानाध्यापक, मनोहर म्युनिसिपल हायर सेकेन्ड्री
स्कूल, गोंदिया (भडारा) ।
५३९. प्रधानाध्यापिका, म्यु. गर्ल्स हाईस्कूल, गोंदिया
(भंडारा) ।
५४०. प्रधानाध्यापक, जे. एम हाईस्कूल (मेन) गोंदिया
(भंडारा) ।
५४१. प्रधानाध्यापक, श्रीमती सरस्वती महिला विद्यालय
गोंदिया (भंडारा) ।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ९] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७१ ★ एक प्रति का १)

संग का प्रभाव

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ।।

--जैसे कीट भ्रमर का ध्यान करता हुआ अन्त में भ्रमर ही बन जाता है, वैसे ही जो मनुष्य नित्य के प्रति अनुरक्त है वह अपनी उस एकनिष्ठा से नित्यस्वरूप ही हो जाता है ।

--विवेकचूड़ामणि, ३५८ ।

गर्वहारी जनार्दनः

एक समय भगवान् श्रीकृष्ण के प्रिय सखा अर्जुन के मन में अहंकार जगा कि उनकी श्रीकृष्ण के प्रति जैसी प्रीति और श्रद्धा है, उसकी कोई बराबरी नहीं है। श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी थे। उन्होंने अर्जुन के मन में उठनेवाले उस अहंभाव को पकड़ लिया। वे अर्जुन को एक दिन घुमाने ले गये। अधिक दूर गये नहीं थे कि अर्जुन ने देखा, एक व्यक्ति सूखी घास को ही चबा-चबाकर खा रहा है और बाजू से तलवार लटकाये हुए है। उसकी वेश-भूषा से अर्जुन ने पहचान लिया कि वह कोई विष्णुभक्त ब्राह्मण है। और ब्राह्मण तो स्वभाव से अहिंसा में प्रतिष्ठित होता है तथा एक कीट तक को दुःख नहीं पहुंचाता। सम्भवतः इसीलिए वह ब्राह्मण सूखी घास खा-खाकर जीवन-धारण किये हुए था, क्योंकि हरी घास में भी जीवन होता है। पर साथ में वह तलवार भी लिये हुए था। इस विरोधाभास को देख अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने श्रीकृष्ण से पूछा, "भगवन्! यह कैसी विचित्र बात है? इस मनुष्य को तो देखिये। वेश-भूषा से तो यह ब्राह्मण मालूम पड़ता है जिसका आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सबके प्रति अहिंसा और प्रेम का भाव होता है; फिर भी यह साथ में एक तलवार लिये हुए है जिससे तो हिंसा और घृणा का भाव सूचित होता है!" भगवान् उत्तर में बोले,

"तुम स्वयं उस मनुष्य से ही यह पूछ लो न।" तब अर्जुन उस ब्राह्मण के पास गये और उससे पूछा, "महाभाग ! आप तो किसी की हिंसा नहीं करते, यहाँ तक कि सूखी घास खाकर ही रहा करते हैं। फिर आप इस तेज धार वाली तलवार को क्यों साथ लिये चलते हैं ?"

ब्राह्मण ने उत्तर में कहा, "मैं चार लोगों को दण्ड देना चाहता हूँ। अगर वे कभी मुझे मिल गये तो उनको मजा चखाने के लिए ही मैं तलवार लिये घूमता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा, "भला वे चार लोग कौन हैं ?"

ब्राह्मण---पहला तो है दुष्ट नारद ।

अर्जुन---भला क्यों ? नारद ने क्या किया है ?

ब्राह्मण---क्यों नहीं किया, जरा उसका दुस्साहस तो देखो। वह अपने भजन-कीर्तन से हमारे भगवान् को हरदम जगाये रखता है। उसके मारे हमारे प्रभु को थोड़ा सा भी चैन नहीं मिल पाता। रात-दिन, जब देखो तभी अपने गाने-बजाने से हमारे प्रियतम को परेशान किये रहता है।

अर्जुन---अच्छा, और दूसरा व्यक्ति कौन है ?

ब्राह्मण---अरे वह विचारहीन द्रौपदी ।

अर्जुन---उसका भला क्या दोष ?

ब्राह्मण---जरा उसके अविवेक और दुस्साहस की ओर तो देखो ! उसने यह ख्याल तक न किया कि मेरे प्रभु भोजन करने जा रहे हैं और वह उन्हें पुकार बैठी।

अरे थोड़ी देर रुक जाती तो क्या बिगड़ता ? उसके कारण मेरे प्रियतम दुर्वासा के श्राप से पाण्डवों की रक्षा करने के लिए भोजन छोड़कर काम्यक वन भागे गये। और उसकी धृष्टता तो देखो, उसने हमारे प्रियतम को अपनी जूठन तक खिला दी।

अर्जुन—अच्छा, तीसरा व्यक्ति कौन है ?

ब्राह्मण—अरे वह है हृदयहीन प्रह्लाद। वह तो इतना निर्दय था कि मेरे प्रभु को खौलते तेल की कड़ाही में आने के लिए कहते उसे तनिक हिचक न हुई; मदोन्मत्त हाथियों के पैर के नीचे उन्हें कुचलाते उसे जरा भी संकोच न हुआ; ठोस खम्भे को फोड़कर उन्हें प्रकट कराते उसे थोड़ी भी दुविधा न हुई।

अर्जुन—और वह चौथा व्यक्ति कौन है ?

ब्राह्मण—नराधम अर्जुन।

अर्जुन—क्यों, उसने क्या किया है ? उससे ऐसी कौन सी भूल हो गयी है ?

ब्राह्मण—उसकी उजड्डता तो देखो। महाभारत-युद्ध में उसने मेरे प्रियतम को अपना रथ हँकवाने के लिए सारथि बना लिया था। साक्षात् भगवान् से सारथि का निम्न कर्म कराना क्या दोष की बात नहीं है ?

ब्राह्मण की भक्ति और श्रद्धा की गहराई देख अर्जुन विस्मित हो गये और उसी क्षण उनका यह गर्व दूर हो गया कि मैं ही भगवान् का सबसे बड़ा भक्त हूँ।

●

धर्म-साधना

स्वामी माधवानन्द

(ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी माधवानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष थे। जब वे रामकृष्ण संघ के महा-सचिव थे तो १२ मई, १९४० को उन्होंने रामकृष्ण मठ, मद्रास में भक्तों की एक सभा को सम्बोधित करते हुए प्रस्तुत उपदेश प्रदान किया था। यह उपदेश एक लेख के रूप में 'वेदान्त केसरी' अँगरेजी मासिक के जुलाई १९४० के अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से यह साभार गृहीत और अनूदित है।—सं.)

धर्म का व्यावहारिक दृष्टिकोण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस व्यावहारिक जगत् में हम सभी, वस्तुतः, धर्म-साधना में अनुरक्त हैं। जो व्यक्ति यथार्थतः तृषित है वह कभी भी जल के गुण और स्वभाव का सैद्धान्तिक विवेचन करना नहीं चाहेगा बल्कि वह तो जल की खोज कर अपनी पिपासा को शान्त करेगा। प्रत्येक भक्त या साधक आरम्भ से ही धर्म के प्रति कुछ न कुछ धारणा रखता है, जो साधना की परिपक्वता के साथ साथ अधिक स्पष्ट एवं दृढ़ होती जाती है। हम सभी जानते हैं कि पार्थिव जीवन सुखमय नहीं है। हमारा दैनिक अनुभव बताता है कि हमारा जीवन बहुधा दुःखों का घर हैं। इसके अभिज्ञान एव शाश्वत वस्तु की खोज से ही आध्यात्मिक जीवन का सूर्योदय होता है।

मनुष्य में तीन प्रकार की प्रेरणाएँ होती हैं। सर्व-प्रथम प्रेरणा है अस्तित्व की; प्रत्येक प्राणी जीवित रहना

चाहता है, कोई भी मरना नहीं चाहता। समस्त विश्व ही जीने के लिये उन्मत्त है। यह अनन्त-जीवन की इच्छा प्रत्येक प्राणी में निहित है। दूसरी है ज्ञान की प्रेरणा। रास्ते में अपने पिता के साथ जाता हुआ बच्चा उससे प्रश्न करता है, 'पिताजी! यह क्या है ? वह क्या है?' हमारे जीवन में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास रहता है। ज्ञानप्राप्ति जीवन का एक अविकल अंग है। और तीसरी है सुख की प्रेरणा। सुख की अपनी अपनी धारणा के अनुसार हम सांसारिक वस्तुओं से अधिकाधिक सुख पाना चाहते हैं। सुख के प्रति हमारी धारणा कितनी भी भिन्न क्यों न हो, मनुष्य किसी न किसी प्रकार से कोई न कोई सुख की प्राप्ति के लिये सदा ही संघर्ष कर रहा है। अस्तित्व, ज्ञान और आनन्द के लिये हमारी प्रेरणा ही हमारे जीवन के तीन प्रधान तथ्य हैं। जब तक हम मनुष्य हैं, ये हमारे साथ आजीवन रहेंगे। यथासम्भव श्रेष्ठ रीति से भूमा ज्ञान और आनन्द पाने के लिए ही हमारी सारी चेष्टाएँ होती हैं। धर्म की वास्तविक समस्या है इस भूमा की खोज।

एक तथ्य जिससे हम सभी परिचित हैं, है मृत्यु। अपनी सारी चेष्टाओं के बावजूद भी हम इस विचार से मुक्त नहीं हो सकते कि मृत्यु के समय स्वास्थ्य, धन, सुन्दरता, सभी कुछ हमसे छूट जायेगा। यथार्थ धार्मिक व्यक्ति तो वह है जो मृत्यु पर विजय प्राप्त करना

चाहता है। विवेकपूर्ण शास्त्रविचार, साधु-संग और अपने अनुभवों से, तथा अन्य अनेक साधनों से हम जान लेते हैं कि इस संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। हमें अपने सांसारिक जीवन से सन्तोष नहीं है। इसलिए हम ऐसे जीवन, ज्ञान और आनन्द को पाने का प्रयास करते हैं जो नित्य है। और यही आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश है। कालान्तर में हमें यह अनुभव हो जायेगा कि ईश्वर-साक्षात्कार के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी हमें अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की प्राप्ति नहीं करा सकता। एकमात्र भगवान् ही हमारी पूर्ण जीवन, पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द की अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं।

जब हम महापुरुषों के सान्निध्य में आते हैं तो हम उनमें बहुत सी बातें समान देखते हैं। वे भौतिक नाशवान् वस्तुओं की चर्चा नहीं करते बल्कि इन्द्रियातीत तत्त्व को मनोरम रंगों में चित्रित करते हैं। हमारे ऋषियों ने यह घोषणा की है कि यदि हम नित्य एवं अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमें इन्द्रियों से परे जाना होगा——भौतिक वस्तुओं से अतीत होना होगा। यह इन्द्रियातीत अवस्था एक वास्तविकता है। वर्तमान युग में भी श्रीरामकृष्ण-जैसे सन्त और ऋषियों ने उस इन्द्रियातीत सत्य की अनुभूति की है। इस सत्य को काली, ब्रह्म या अन्य किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। यह कल्पना नहीं है। इसी जीवन में ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। अतः

अपनी शक्तियों को उस अनन्त सत्ता की उपलब्धि की ओर प्रेरित करो।

यह सत्य है कि स्वभावों में भिन्नता होने के कारण मार्ग विभिन्न हैं, ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण में भेद हो सकता है; किन्तु वह भिन्नता केवल सतही है और मूलतः सभी भेद एक ही तत्त्व--ईश्वर--में विलीन हो जाते हैं। ईश्वर व्यक्ति-विशेष हो सकते हैं और निर्विशेष भी। वे शिव, कृष्ण और शक्ति भी हो सकते हैं; परन्तु ये सब के सब परम सत्य ही हैं। सत्य का अन्वेषक होने के नाते हमारा कर्तव्य होना चाहिये कि हम एक सामान्य आधार को खोज लें और अपने उद्देश्य की ओर बढ़े चलें, फिर हमारा मार्ग चाहे कर्म हो या ज्ञान, योग हो या भक्ति। जो भी शास्त्र तुम्हें रुचिकर लगता हो उसे ध्यान से पढ़ो, तो सर्वत्र यही उपदेश पाओगे। जहाँ तक हो सके आध्यात्मिक बनो। इन्द्रियाँ सुख और ज्ञान दे सकती हैं परन्तु वे मन को स्थायी रूप से तृप्त नहीं करतीं। इसलिये अपने मन को इन्द्रियों से हटाकर इन्द्रियातीत सत्य पर केन्द्रित करो।

दूसरे शब्दों में, इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। प्रश्न उठता है कि यह कैसे हो? इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने एक बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया है—'ईश्वर का ध्यान करो अँधेरे कोने में, एकान्त वन में या गहन हृदय-मन्दिर में।' यह उपदेश तीन प्रकार के लोगों के लिये है। जिनके पास वन में जाने का

अवकाश है उनके लिये श्रीरामकृष्ण वन में ध्यान करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि उनके लिये विक्षेपपूर्ण संसार की बजाय वन में साधना करना सुगम है। रसायनशास्त्री जानते हैं कि नाजुक तराजू से ऐसे स्थान पर तोलना कठिन है जहाँ हवा बहती हो। इसी प्रकार एकान्त वन में ही ईश्वर-चिन्तन करना चाहिये। जो वन को नहीं जा सकते उनके लिये घर के एकान्त कोने का उपदेश दिया गया है। यदि किसी को घर का कोना भी नहीं मिल सकता, और वह समाज से भी दूर नहीं जा सकता, तब उसे अपने को अपने मन के एक कोने में बन्द कर लेना चाहिये, समाज में रहते हुए भी अपने मन को अन्तर्मुखी कर लेना चाहिये।

अपने मन को अपने हृदय पर केन्द्रित करो और यह सोचने का प्रयास करो कि भगवान् तुम्हारे हृदय में वास करते हैं और उनका ध्यान करो। इससे तुम्हें कुछ धैर्य और शान्ति अवश्य मिलेगी। तुम्हें शास्त्रों के विभिन्न आदेशों का समन्वय कर लेना चाहिये। सभी शास्त्रों एवं महापुरुषों का यही उपदेश है :—'ध्यान करो। मन को ईश्वर पर केन्द्रित करो, ईश्वर सम्बन्धी सत्यों पर केन्द्रित करो; श्रीगुरु-प्रदत्त इष्ट का ध्यान करो।' यदि गुरु न मिले हों तो प्रभु का जो भी रूप तुम्हें रुचिकर लगे उसी का ध्यान करो—चाहे कुछ क्षण के लिये ही क्यों न हो।

हमारा प्रत्येक विचार हमारे मन पर अपना प्रभाव

छोड़ता जाता है। ग्रामोफोन रिकार्ड की लीकों के समान विचारों की पुनरावृत्ति से मस्तिष्क में भी संस्कार बनते जाते हैं। इन्द्रिय-संस्पर्शों ने पहले से ही हमारे मन पर अपनी छाप डाल रखी है। विषयों से सम्पर्क होने पर यह छाप मन में समान विचारों को उत्पन्न करती है। हमने भूतकाल में कुछ वस्तुओं के बारे में प्रसन्नता से या अरुचि से सोचा है। उन वस्तुओं के सामने आने पर हमारे मन में पुनः वैसे ही संस्कार अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं।

हम आज जो कुछ हैं वह विचारों का ही फल है। अतएव हम भविष्य में वही बनेंगे जो कि हम बनना चाहते हैं। अपने में शुभ विचारों की वृद्धि करने का सबसे समर्थ उपाय है ध्यान। यह हमारे अशुभ संस्कारों को हटाने में सहायता करता है। इसलिये धर्म-साधना के लिये ध्यान करना आवश्यक है।

आरम्भ में ध्यान करना कठिन होता है क्योंकि ईश्वर सम्बन्धी विचार हमारे लिये एकदम नये होते हैं। बेला बजाना सीखने की भाँति ध्यान भी धीरे धीरे होना चाहिये। बेला बजाना पहले पहल कठिन और अरुचिकर होता है। निरन्तर साधना के द्वारा क्रमशः उसके लिए रुचि उत्पन्न होती है और तब हम उसे छोड़ नहीं सकते। तब व्यक्ति अपने एवं दूसरों के आनन्द के लिये बेला बजाता है। इसी प्रकार ध्यान में भी रुचि एवं रस उत्पन्न करना चाहिये, तब उसमें आनन्द आयेगा

और अन्त में पूर्णता प्राप्त होगी। अर्जुन को जब श्रीकृष्ण ने मन को वश में करने के लिये कहा तो उसने देखा कि यह हवा को पकड़ने के समान कठिन है। तब श्रीकृष्ण ने उसे अभ्यास और वैराग्य का वही पुरातन उपाय बताया। निरन्तर अभ्यास के द्वारा मन वश में होता है। पर ध्यानाभ्यास के साथ साथ वैराग्य भी होना चाहिये।

यदि तुम वस्तुत: ईश्वर को चाहते हो तो ईश्वर-प्राप्ति के पथ में बाधास्वरूप वासनाओं का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार के त्याग के बिना आध्यात्मिक उन्नति असम्भव हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो इद्रियों के अधीन होते हुए भी इन्द्रियातीत होना चाहते हैं। उनके प्रयास स्वभावतः निष्फल हो जाते हैं। जब नाव पानी में बँधी हो तब उसे आगे बढ़ाने के लिये खेने से भी कोई लाभ नहीं होता। प्राय: हम यह समझकर अपने आप को धोखा दे बैठते हैं कि हम ईश्वर को चाहते हैं, किन्तु यथार्थत: हम उसे नहीं चाहते। गिरीशचन्द्र घोष के एक नाटक में किसी पात्र के द्वारा अभिव्यक्त किया गया, 'मैं उसे भूल नहीं सकता!' इसके प्रत्युत्तर में गुरु ने कहा, 'तुम उसे भूल नहीं सकते? कहो कि तुम उसे भूलना नहीं चाहते।' यही रहस्य है। हमारे हृदय में छिपी हुई इच्छाओं को भगवान् जानते हैं। इसलिये सर्वप्रथम यह देख लेना चाहिये कि हमारे वचन और कार्य वास्तव में एक ताल में हैं या नहीं। संक्षेप में यदि कहें तो निश्छलता ही उपाय है। श्रीरामकृष्ण के द्वारा

इतने अल्प समय में ईश्वर-साक्षात्कार कर लेने का क्या कारण है ? उनकी निश्छलता और अटल प्रयास ही । वे समझौते की बात नहीं मानते थे । वे कहते थे कि शुद्ध एवं शान्त होने पर मन ही गुरु बन जाता है । कभी कभी तो हम अनुभव करते हैं कि एकमात्र ईश्वर ही प्राप्त करने योग्य वस्तु है, संसार नहीं; पर हमारा यह अनुभव क्षणिक होता है । हमें इस अनुभव को स्थायी बना लेना चाहिये । दूसरे शब्दों में, यदि हम ईश्वर को चाहते हैं तो हमें उसके अतिरिक्त सभी वस्तुओं का त्याग करना चाहिये । यदि हम निष्ठावान् और प्रयत्नशील हों तो ईश्वर की ओर से सहायता अवश्य आयेगी । जैसे हम ईश्वर की ओर चलते हैं, वैसे ही वे भी हमारी ओर आते हैं । यदि हम उनकी ओर एक कदम चलते हैं तो वे हमारी ओर दस कदम आते हैं । श्रीरामकृष्ण ने हमें यह एक महान् आश्वासन दिया है ।

ईश्वर अपने स्वभाव से अनन्त हैं । यदि ऐसा न होता तो हमारा भरसक प्रयास भी उन तक पहुँचने में असमर्थ ही होता । उनकी अनन्त कृपा से ही हम अपने प्रयासों में सफल होते हैं । हमारे घरों में जब बच्चे छोटे होते हैं और उन्हें बोलना नहीं आता, तो वे केवल 'ला' 'ला' ही कह पाते हैं, पर उसी से पिता प्रसन्न होते हैं और उत्तर देते हैं । इसी प्रकार ईश्वर भी हमारे निष्ठापूर्ण थोड़े से प्रयास से तृप्त हो जाते हैं और हमारी

पुकार का उत्तर देते हैं। वे करुणा और प्रेम के भण्डार हैं। वे अपने नन्हे बच्चों से बहुत प्रसन्न रहते हैं। वे उनके हृदय की गतिविधियों को जानते हैं और उनकी आवश्यकताओं को आशा से अधिक पूरी करते हैं। तनिक सा सच्चा प्रयास भी उनकी महती कृपा को खींच लाता है। किन्तु खेद है कि हम यह तनिक सा प्रयास करने में भी असमर्थ हैं।

एक बार स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी तुरीयानन्द से कहा——क्या ईश्वर शाक-सब्जी की तरह हैं जिन्हें किसी अन्य वस्तु के बदले में खरीदा जा सके? क्या तुम ईश्वर को मोल ले सकते हो? ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें कठोर साधना करनी होगी। याद रखो कि साधना और सिद्धि में त्रैराशिक नियम का सम्बन्ध नहीं है। हमारे हृदय की सारी शक्ति ईश्वर की ओर अभिप्रेरित होनी चाहिये। हमें उनके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। श्रीरामकृष्ण का एक उदाहरण ले लें। समुद्र के बीच में चलते हुए जहाज के मस्तूल पर बैठा हुआ पक्षी किनारे पर पहुँचने के लिये बार बार विभिन्न दिशाओं में उड़ता है; किन्तु अन्त में वह थक जाता है और विश्राम पाने के लिये आखिर मस्तूल पर ही लौट आता है। और जब जहाज बन्दरगाह पर लगता है तब वह अनायास ही किनारे पहुँच जाता है। उस पक्षी की भाँति हमें भी भरसक प्रयत्न करके यह अनुभव कर लेना चाहिये कि अपनी

समस्त चेष्टाओं के बावजूद भी हम निष्फल रहे। अतएव, साधना मानो पंखों को थकाने के लिये आवश्यक है और उससे हमारा अहं सम्पूर्णतया नष्ट हो जाना चाहिये। आँख-मिचौनी का खेल खेलकर ईश्वर हमारे अहंकार को बाहर निकाल फेंकते हैं। सामान्यतः हम अपने अधिकार और सामर्थ्य की बात सोचते हैं; हम सोचते हैं कि हमें कुछ न कुछ करना चाहिये; हम कहते हैं कि हम यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं तथा ईश्वर को अपने प्रयासों से प्राप्त कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि हम संसार में अपने अनुभव एवं अहंभाव के द्वारा बहुत सी वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये हम ईश्वर को भी उसी ढंग से पाने का प्रयास करते हैं। किन्तु हमें समझ लेना चाहिए कि ये सब प्रयास हमारे मन को शुद्ध करते हैं और उसे ईश्वर में लगाये रखने में सहायता करते हैं। इसलिये ये आवश्यक हैं। यदि तुम अपने को साधना में प्रवृत्त नहीं करते तो तुम पूर्ण शरणागति प्राप्त नहीं कर सकते। यह शरणागति तो ईश्वर-प्राप्ति के लिये भरसक प्रयत्न करने से ही आती है। जब मनुष्य अपने प्रयासों की अन्तिम सीमा को भी निरर्थक जान लेता है तब वह समर्पण करता है। यही यथार्थ प्रपत्ति है और यह अध्यवसायपूर्वक साधना के अन्त में प्राप्त होती है।

माँ अपने बच्चे को कुछ खिलौने दे देती है और जब तक वह खेलता रहता है वह अपना काम-काज करती

रहती है। वह तब तक बच्चे की ओर ध्यान नहीं देती जब तक वह खेलता रहता है या थोड़ा-बहुत रोता रहता है; किन्तु जिस क्षण कोई खतरा आने से वह जोरों से रोने लगता है तो माँ एकदम दौड़कर उसके पास आ जाती है। वह जानती है कि बच्चे का रोना बनावटी है या असल। वह यह समझती है कि उसे जाना चाहिये या नहीं। इसी प्रकार, जब ईश्वर के लिये हमारा रुदन हृदय से होता है तो वे सुनते हैं। तात्पर्य यह है कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति ईश्वर-प्राप्ति में लगा देनी चाहिये। जैसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये तुम अपनी सारी शक्ति लगा देते हो, उसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के लिये भी तुम्हें जी-जान से जुट जाना चाहिए।

महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्रों में ध्यान के तीन लक्षणों की चर्चा करते हैं—'दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः'। दीर्घकाल का अर्थ है बहुत काल तक। नैरन्तर्य का अर्थ है निरन्तर, सब समय। अभिप्राय यह है कि नियत समय पर अभ्यास करने के साथ-साथ मन को निरन्तर ईश्वर में लगाये रखना चाहिये। किसी नियत समय पर नियमित रूप से ईश्वर का ध्यान करने से ही नहीं होगा; बल्कि मन के एक अंश को सदैव ईश्वर में लगाकर रखना होगा। तीसरा लक्षण है सत्कार यानी तत्परता। कुछ भी दिखाऊ नहीं होना चाहिये; जो कुछ भी करो उसके प्रति ऐकान्तिक श्रद्धा होनी चाहिये। सफलता के लिये दीर्घ, निरन्तर और निष्कपट अभ्यास

आवश्यक है ।

इसलिये अपनी साधना को इन तीन गुणों की कसौटी पर कसो । ईश्वर-साक्षात्कार को अपने जीवन का चरम ध्येय बना लो । एक हिन्दू होने के नाते तुम्हें इसी जीवन में ईश्वर-प्राप्ति कर लेनी चाहिये । जीवन का यह सर्वोच्च अनुसन्धान तुम्हारी सम्पूर्ण शक्ति की माँग करता है । यह मत कहो कि यौवन तो मौज के लिये है, वृद्धावस्था में धर्म को देख लेंगे । वृद्धावस्था में तुम साधना करने योग्य नहीं रह जाओगे । अतएव अभी से अध्यवसाय पूर्वक साधना में लग जाओ । यदि तुम्हारी मनोवांछा पूर्ण न हो तो अपने ही को दोष दो । भविष्य के लिये कुछ भी न छोड़ो, अन्यथा परिणाम कुछ भी न होगा । उपनिषद् कहते हैं, 'जो कुछ तुम यहाँ और अभी पाते हो वही तुम्हारा है ।' इसलिये वर्तमान सुअवसर का सदुपयोग करो और ईश्वर-साक्षात्कार कर लो । काम-काज करते हुए भी आध्यात्मिक पक्ष पर बल दो । गीता के अनुसार, तनिक सी श्रद्धा भी बहुत कुछ कर लेगी, थोड़ा सा प्रयास भी महान् भय से हमें बचा लेगा ।

विज्ञान में हम द्रवस्थिति विज्ञान (hydrostatic paradox) की बात सुनते हैं । जब एक छोटा बर्तन जलाशय से संयुक्त कर दिया जाता है तो दोनों में ही जल समतल हो जाता है । इसलिये अपने को ईश्वर से संयुक्त कर दो, निश्छल हो जाओ और भगवदर्थ कर्म करो । बंगाल के महान् सन्त रामप्रसाद का कथन है,

'मैं तुम्हें अपनी अभिरुचि के अनुसार मेरी श्यामा माँ की पूजा करने को कहता हूँ ।' अपने हाथों को प्रभु का नाम गिनने के काम में लाओ अर्थात् जप करने में लगाओ। भोजन करते समय विचार करो कि तुम अपने इष्ट को नैवेद्य चढ़ा रहे हो। प्रत्येक शब्द ईश्वर का मंत्र है और इसलिये जब भी तुम कुछ सुनो तब यही सोचो कि तुम भगवान् का नाम सुन रहे हो। प्रत्येक मानव-शरीर में ईश्वर रहते हैं; और इसलिये जब कभी तुम चलो तब यही समझो कि तुम प्रदक्षिणा कर रहे हो। सदैव नेत्रों से उनका रूप देखो; इत्यादि। इस प्रकार तुम्हें अपनी समस्त लौकिक गतिविधियों को आध्यात्मिक बना लेना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक जीवन में ऐसा कर सकता है।

संसार में रहते हुए भी ईश्वर पर बल दो। अपने आदर्श को छोटा मत करो। संसार में अपना कार्य करो और यह मानो कि ईश्वर ने ही तुम्हें वह कार्य दिया है और तुम्हें देख रहा है। जब तुम एकान्त और अवकाश पाओ तो अपने मन को ईश्वर में लगा दो और उनका नाम जपो। जब तुम्हारा शरीर क्लान्त हो जाय और तुम लेटे हुए हो, तब भी ईश्वर का चिन्तन करो। ईश्वर सम्बन्धी विचार स्नायुओं को प्रशमित करते हैं, मन को शान्त बनाते हैं तथा शीघ्र विश्रान्ति देते हैं। यही रहस्य है। जब तुम सर्वत्र ईश्वर को देखते हो तब कोई भी हानि नहीं होती। वन में रहनेवाले सन्तजन

बाघ को देखते हैं परन्तु उनसे डरते नहीं। ऋषिगण बाघ में ईश्वर के दर्शन करते हैं इसलिये बाघ उन्हें हानि नहीं पहुँचाते। महान् सन्त पवहारी बाबा ने जब उस चोर को देखा जो उनकी गुफा में चोरी करने के लिये घुसा था और पकड़े जाने के डर से भाग रहा था, तो उन्होंने कहा, 'हे प्रभो! यह सब तुम्हारा ही है, मैं ही यह सब तुम तक पहुँचा देता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने सारी वस्तुएँ उसके सामने रख दीं। इस सन्त ने चोर में ईश्वर को देखा। और जब बाद में स्वामी विवेकानन्द की उसी चोर से भेंट हुई तब तक वह चोर सन्त बन चुका था। श्रीरामकृष्ण बहुधा वेश्या में भी भगवती के दर्शन कर समाधिस्थ हो जाते थे। एक महिला को नीली साड़ी पहने हुए देखकर उनको माँ सीता की याद हो आयी। जब उन्होंने शराबियों का समूह देखा तो उन्हें आध्यात्मिक नशा होने लगा। उनकी साधना का फल ही ऐसा था।

ईश्वर ही सत्य हैं। जैसे समुद्र में डूबे हुए घड़े के अन्दर और बाहर जल ही जल होता है, उसी प्रकार हम अन्दर और बाहर ईश्वर से ओतप्रोत हैं। ईश्वर की उपस्थिति का जितना अनुभव कर सकते हो करो। ईश्वर सम्बन्धी वाद-विवाद में समय नष्ट न करो बल्कि ईश्वर के लिये अपनी पिपासा को तृप्त करो। स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने मुझे बताया था, 'जिस प्रकार जल में डूबा हुआ व्यक्ति साँस के लिये तड़पता है, उसी प्रकार

ईश्वर के लिये व्याकुल होना चाहिए।' ईश्वर को पाने के लिये यथार्थ इच्छा करनी चाहिये। यदि तुम्हें ईश्वर के अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा है तो अपने मन को बताओ कि तुम वास्तव में क्या चाहते हो और अपने को धोखा न दो। यदि तुम्हारी इच्छाएँ अपनी पूर्ति के लिए अत्यधिक परिश्रम और शक्ति की अपेक्षा रखती हों तो उन्हें पूर्ण न करो; किन्तु यदि इच्छाएँ छोटी-मोटी हों और अधिक हानिकारक न हों तो उनकी पूर्ति कर लो और मुक्त हो जाओ। ईश्वर से सच्चा प्रेम करो और उन तक पहुँचने का प्रयास करो। यह विश्वास रखते हुए कि ईश्वर तुम्हारी सहायता करेंगे, अपने अभ्यास और साधना की प्रणाली को स्वयं चुन लो। ईश्वर से प्रार्थना करो और उनके लिये यथार्थ व्यथा का अनुभव करो। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, 'यदि तुम समूचे हृदय से प्रार्थना करो तो वे अवश्य तुम पर कृपा करेंगे।' उन्होंने कभी मिथ्या वचन नहीं कहे। वे शिक्षा देने आये थे। उन्होंने कहा था, 'यदि तुम यथार्थ में ईश्वर को चाहते हो तो तुम उन्हें शीघ्र ही पा जाओगे।' यदि हमारा प्रयास निष्ठा और आकुलता से भरा हो तो ईश्वर-साक्षात्कार में उतना ही समय लगेगा जितना गाय के सींग से सरसों के दाने को नीचे गिरने में लगता है। अपने को ईश्वर का शिशु मानो। उनसे सम्बन्ध तो पहले से है ही, केवल उसे स्मरण में ले आओ। ईश्वर का विचार मन में निरन्तर उसी प्रकार चले जैसे दाँत में

लगातार दर्द बना रहता है। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि इसी जीवन में ईश्वर के दर्शन कर लेना सचमुच सम्भव है। मैं यह कहने की अनुमति लेना चाहूँगा कि मेरे तुच्छ अनुभव तथा श्रीरामकृष्ण देव के पार्षदों के पुनीत सान्निध्य ने मुझमें ऐसा विश्वास भरा है।

●

ऊँचे पदवालों या धनिकों का भरोसा न करना। उनमें जीवनी-शक्ति नहीं है—वे तो जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं। भरोसा तुम लोगों पर है; गरीब, पद-मर्यादा रहित किन्तु विश्वासी तुम्हीं लोगों पर। ईश्वर पर भरोसा रखो। किसी चालबाजी की आवश्यकता नहीं; उससे कुछ भी नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर के पास सहायता की प्रार्थना करो—सहायता अवश्य मिलेगी।...मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु मेरे नवयुवको, मैं गरीब, भूखों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पित करता हूँ।...अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार के लिए अर्पित कर देने का व्रत लो, जो दिनोंदिन डूबते जा रहे हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

गोलाप-माँ

डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा

आज २८ जुलाई है, सन् १८८५। आज दक्षिणेश्वर के सन्त कलकत्ता पधारे हैं। श्री नन्द बसु के घर उनका आगमन हुआ है। वहाँ से वे एक शोकातुरा ब्राह्मणी के घर भी जाएँगे। युगावतार उसकी कुटी को भी चरण-धूलि से पवित्र करेंगे, यह समाचार ब्राह्मणी को उद्वेग-विह्वल किये हुए है। हृदय में आनन्द बँध नहीं पा रहा है। वह बार-बार घर के दरवाजे से निकलती है और बाहर झाँककर फिर अन्दर के कामों में व्यस्त हो जाती है। कभी-कभी उसे सन्देह भी होता है कि सम्भवतः परमहंस देव उसके घर न आयें। किन्तु जब श्रीरामकृष्ण उसके घर पहुँचे तब उसका सारा संशय नष्ट हो गया। उसका हृदय अकथनीय आनन्द से भर उठा और हर्ष के दुर्दमनीय भँवर में पड़कर वह कह उठी, "अहा! मैं आज अपने आनन्द को सम्हाल नहीं पा रही हूँ। जब मेरी बेटी चण्डी अपने श्वसुरगृह से बहुत से दरबानों के साथ बड़ी धूमधाम से यहाँ आती थी और जब मेरे दीन-हीन घर में नया जीवन भर उठता था तब भी मुझे इतने आनन्द का अनुभव नहीं होता था। आज तो मेरी दशा ठीक उस गरीब आदमी जैसी हो गयी है जिसे लाटरी में एक लाख रुपया मिल गया था और यह खबर सुनते ही उसके दिल की धड़कन बन्द हो गयी थी।

सचमुच में वह मर ही गया। मेरी मनोदशा भी ठीक वैसी ही है। कृपया मुझे आशीर्वाद दीजिए, अन्यथा मैं मर जाऊँगी।" उस शोकातुरा ब्राह्मणी की श्रीरामकृष्ण देव पर इतनी उत्कट श्रद्धा थी कि उनके आते ही उसकी सारी अस्थिरता नष्ट हो गयी और वह चित्रलिखित-सी रह गयी। घर में शोकातुरा ब्राह्मणी की बहन भी थी। काम-काज में सहायता करने के लिये उसने अपनी बहन को बुलाया पर वह श्रीरामकृष्ण देव का सामीप्य नहीं छोड़ सकी।

श्रीरामकृष्ण रात को दक्षिणेश्वर लौटे। साथ में एक भक्त भी था। उन्होंने भक्त से उन दोनों ब्राह्मणियों की चर्चा करते हुए कहा, "अहा! वे कितनी प्रसन्न हुईं!" भक्त ने कहा, "जी हाँ, कितनी विलक्षण समानता है! वे दोनों बाइबिल में वर्णित मेरी और मार्था नामक दो बहनों के समान लगती हैं।" भक्त की बात सुनकर श्रीरामकृष्ण ने उससे मेरी और मार्था के बारे में पूछा। तब भक्त ने उन्हें बताया कि एक बार मार्था ने प्रभु यीशु से शिकायत की, "प्रभो, क्या आप नहीं देखते कि मेरी बहन ने काम-काज का सारा भार मुझ पर डाल दिया है? उससे कहिए कि वह मेरी सहायता करे।" तब यीशु ने कहा, "मार्था! मार्था! तुम बड़ी चतुर हो और तुम्हें बहुत सी बातों की चिन्ता लगी रहती है। लेकिन एक और चीज आवश्यक है और मेरी ने उस अच्छी चीज को चुन लिया है!" (ल्यूक, दसवाँ, ३८-४२)

श्रीरामकृष्ण-गत-प्राणा यह मेरी भक्तवृन्द में गोलाप-माँ के नाम से जानी जाती हैं। असह्य दुःख के भार से पीडित हो उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन किये थे, इसीलिए श्रीरामकृष्ण उन्हें 'शोकातुरा ब्राह्मणी' भी कहा करते थे। उनका पूरा नाम था गोलापसुन्दरी देवी। उनका विवाह एक अतिशय दरिद्र किन्तु उच्च आध्यात्मिक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। किन्तु गोलापसुन्दरी के भाग्य में पति-सुख नहीं लिखा था। वे अल्पायु में ही विधवा हो गयीं; उनके पति उन्हें एक पुत्र और एक पुत्री के साथ जीवन-यापन करने के लिए छोड़ गये। उनका पुत्र भी कुछ वर्षों के बाद चल बसा। गोलापसुन्दरी के हृदय पर यह दूसरा वज्राघात था। किसी-प्रकार उन्होंने अपनी पुत्री का मुख देखकर मन को धीरज बँधाया पर यह सुख भी क्षणिक ही था। बड़े उत्साह से उन्होंने अपनी पुत्री चांदी का विवाह एक अत्यन्त सम्पन्न परिवार में श्री सौरीन्द्रनाथ ठाकुर से किया था पर चाँदी भी उन्हें अशेष दुःखसागर में डूबने-उतराने के लिए छोड़कर चल बसी। गोलापसुन्दरी इस बार दुःख के इस आघात को सह न सकीं। उनका हृदय रीता हो गया। उनके मुख से निरन्तर उच्छ्वास निकलते रहते। शोकातुरा ब्राह्मणी के आँसू सूख ही नहीं पाते थे। उनकी यह दशा जब योगीन-माँ ने देखी तो वे उन्हें श्रीरामकृष्ण के पास जाने का परामर्श देने लगीं। योगीन-माँ ने श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन किये थे तथा

वे यदा-कदा दक्षिणेश्वर जाया करती थीं। वे जानती थीं कि संसार में यदि कोई गोलापसुन्दरी के शोक का मोचन कर सकता है तो वे श्रीरामकृष्ण ही हैं। योगीन-माँ की सलाह पर गोलाप-माँ ने दक्षिणेश्वर में युगावतार के दर्शन किये और उनका हृदय एक अलौकिक प्रशान्ति से भर उठा। उनकी दुःखभरी कहानी को सुनकर श्रीरामकृष्ण भावाभिभूत हो उठे थे और उन्होंने कहा था, "तुम तो भाग्यवती हो! ईश्वर उसी की सहायता करते हैं जिसका संसार में अपना कहनेवाला कोई भी नहीं होता।"

श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन से गोलापसुन्दरी का शोक कम हो चला। युगावतार की सहानुभूतिमयी वाणी ने उनके हृदय की रिक्तता भर दी और आध्यात्मिक जिज्ञासा को उद्दीप्त कर दिया। गोलापसुन्दरी बार-बार दक्षिणेश्वर जाने लगीं और श्रीरामकृष्ण देव के पुनीत साहचर्य में उनका अन्तःकरण संस्कारित होने लगा। एक दिन वे गरमी के दिनों में दक्षिणेश्वर पहुँचीं। तब श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में भक्तों से आध्यात्मिक चर्चा कर रहे थे। गोलापसुन्दरी भी चुपचाप दरवाजे के समीप बैठ गयीं। श्रीरामकृष्ण अपने बाल्यसखा श्रीराम मल्लिक के पुत्र-शोक की बात कर रहे थे। उन्होंने कहा, "जन्म और मृत्यु तो जादू के समान हैं। अभी कोई पैदा होता है और दूसरे ही क्षण वह मर जाता है। ईश्वर ही सत्य हैं तथा अन्य सब अनित्य हैं। अतएव यही चेष्टा करनी

चाहिए जिससे उन पर भक्ति हो और उनकी प्राप्ति हो। केवल शोक करने से क्या होगा ?" गोलापसुन्दरी को ऐसा लगा कि श्रीरामकृष्ण ने उनके मन की हलचलों को समझकर प्रबोधन प्रदान किया है। एवंविध उपदेशों और निर्देशों से गोलापसुन्दरी के मन में ईश्वरानुराग दिनोंदिन बढ़ने लगा। यद्यपि वे पहले से ही अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान तथा साधनाएँ किया करती थीं किन्तु दक्षिणेश्वर के सन्त के साहचर्य में वे आत्यन्तिक भाव से तपस्याओं में लग गयीं।

गोलापसुन्दरी को श्रीरामकृष्ण देव ने श्रीमाँ सारदा से भी परिचित करा दिया था। उन्होंने श्रीमाँ से कहा था, "तुम इस ब्राह्मण-लड़की को अच्छी तरह से खिलाना। अगर पेट भरा रहे तो शोक कम हो जाता है।" श्रीमाँ ने बड़े स्नेह से गोलापसुन्दरी को ग्रहण किया। श्रीमाँ उन्हें गोलाप कहा करती थीं तथा श्रीरामकृष्ण-भक्तवृन्द में वे कालान्तर में गोलाप-माँ के नाम से पुकारी जाने लगीं। धीरे-धीरे गोलाप-माँ का हृदय श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ की भक्ति से लबालब भर उठा। वे प्राय: ही दक्षिणेश्वर जातीं और कभी-कभी नौबतखाने में श्रीमाँ के साथ रात्रियापन भी किया करतीं। धीरे-धीरे उन्हें श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों को सुनने का पर्याप्त अवसर मिलने लगा और उनकी सेवा के सुयोग भी उपलब्ध होने लगे। जब वे दक्षिणेश्वर में रहतीं तब श्रीमाँ प्राय: उनके ही हाथों भोजन की थाली श्रीराम-

कृष्ण देव के समीप भिजवा दिया करती थीं ।

एक बार गोलाप-माँ श्रीरामकृष्ण देव के लिए भोजन लेकर पहुँचीं । श्रीरामकृष्ण देव भोजन करने लगे तथा गोलाप-माँ भी उनके समीप उनसे बातें करने के लिये बैठ गयीं । ठाकुर भोजन करते रहे और गोलाप-माँ उन्हें एकटक देखती रहीं । तभी एकाएक वे जोरों से हँस पड़ीं । श्रीरामकृष्ण गोलाप-माँ के हँसने का कारण समझ गये । फिर भी उन्होंने पूछा, "अच्छा, तुम बता सकती हो कि कौन खा रहा है, मैं या कोई और ?" गोलाप-माँ ने बताया कि उन्होंने ठाकुर के मुँह में एक साँप-जैसे प्राणी को देखा है । जैसे ही भोजन का ग्रास मुख में जाता है वैसे ही वह सर्प उसे निगल जाता है । ठाकुर प्रसन्न होकर बोले, "तुमने बिलकुल ठीक देखा है और सही कहा है । यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुमने इसे देखा और समझा है ।" कालान्तर में इस घटना का स्मरण कर गोलाप-माँ कहा करती थीं कि उन्होंने कुण्डलिनी-शक्ति को भोजन स्वीकार करते देखा था जो मनुष्यों में सर्प के आकार में विद्यमान रहती है ।

ठाकुर ने श्रीमाँ से कहा था, "तुम इस ब्राह्मणी लड़की को सम्हालना । अब से वह निरन्तर तुम्हारी सहचरी रहेगी ।" उनकी यह बात अक्षरशः सत्य हुई । श्रीरामकृष्ण देव जब व्याधिग्रस्त होकर श्यामपुकुर गये तब गोलाप-माँ भी उनके भोजन तथा अन्य आवश्यक कार्यों की व्यवस्था के लिए वहाँ चली आयीं । इसी प्रकार

श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के उपरान्त गोलाप-माँ श्रीमाँ की छाया के समान उनके साथ डोलती रहीं और उनकी सेवा करती रहीं। श्रीमाँ जब तीर्थयात्रा के लिये गयीं तब गोलाप-माँ भी उनके साथ थीं। जयरामवाटी तथा कलकत्ते में निवास करते समय भी गोलाप-माँ श्रीमाँ के साथ रहीं। गोलाप-माँ श्रीमाँ की केवल सेविका ही नहीं थीं, संरक्षिका भी थीं। श्रीमाँ के परिवार के बढ़ने के साथ ही गोलाप-माँ के कर्तव्य भी बढ़ गये थे। अनेक भावुक भक्त श्रीमाँ के समक्ष अपनी अतिशय भावुकता का प्रदर्शन कर उन्हें कभी कभी उलझन में डाल दिया करते थे। ऐसे समय गोलाप-माँ ही भक्तों की भावुकता का प्रशमन कर श्रीमाँ को मुक्त करती थीं।

एक बार एक भक्त श्रीमाँ की पूजा करने के लिये साज-सामान के साथ आया और उन्हें चौकी पर बिठाकर पूजा करने लगा। गोलाप-माँ ने उचटती नजर से उसकी ओर देखा और घर के अन्यान्य कार्यों में लग गयीं, क्योंकि यह एक सामान्य बात हो गयी थी। बहुत देर बाद जब वे वापस लौटीं तो उन्होंने देखा कि श्रीमाँ उसी प्रकार पैर नीचे किये चौकी पर बैठी हुई हैं। श्रीमाँ बड़ी लज्जाशीला थीं, उन्होंने अपने सारे शरीर को कपड़े से लपेट रखा था। गर्मी के दिन थे। उनका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया था। पर भक्त को इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। वह तो बड़े निश्चिन्त

भाव से स्तोत्र पढ़ते हुए औपचारिक क्रियाएँ कर रहा था। यह देखते ही गोलाप-माँ के तन-बदन में आग लग गयी। उन्होंने भक्त को हाथ पकड़कर उठाया और ताड़ना देते हुए कहा, "अरे, क्या तुम किसी काठ-पत्थर की मूर्ति के सामने बैठे हो जिसे अपने तंत्र-मंत्र से जाग्रत् कर रहे हो ?" इसी प्रकार अन्य अनेक अवसरों पर भी गोलाप-माँ ने श्रीमाँ की रक्षा की थी।

श्रीमाँ के प्रति गोलाप-माँ का प्रेमभाव अनुपम था। श्रीमाँ भी उन पर अत्यधिक निर्भर रहा करतीं तथा सदैव उन्हें अपने साथ रखा करतीं। उन्होंने कहा था, "मैं तो गोलाप के बिना चल भी नहीं सकती। जब गोलाप मेरे साथ होती है तब मैं निश्चिन्त रहती हूं।" वस्तुतः गोलाप-माँ सहचरी के समान श्रीमाँ के साथ रहतीं और परम स्नेहमयी माता के समान श्रीमाँ की समस्त सुख-सुविधाओं का ध्यान रखतीं। लज्जाशीला श्रीमाँ भक्तों से वार्तालाप तक नहीं कर पाती थीं। उन्हें जो कुछ कहना होता वह फुसफुसाकर गोलाप-माँ को बता देतीं और गोलाप-माँ उनकी बातों को भक्त तक पहुँचा देती। इस प्रकार गोलाप-माँ श्रीमाँ और भक्तों के मध्य दुभाषिये का कार्य करती थीं। अवगुण्ठनशीला श्रीमाँ कहीं आते-जाते रास्ता भी अच्छी तरह से नहीं देख पाती थीं। ऐसे अवसर पर गोलाप-माँ ही उन्हें हाथ पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जातीं। यही नहीं, गाड़ियों में चढ़ते-उतरते समय गोलाप-माँ का हाथ

श्रीमाँ को सहारा देने के लिये सदैव बढ़ा रहता था ।

श्रीमाँ के भक्त-परिवार की वृद्धि के साथ ही गोलाप-माँ का कार्यभार भी बढ़ गया । वे स्वाभाविक रूप से परिवार की अभिरक्षिका बन गयीं । रसोई-चूल्हे का सारा भार उन पर ही था और वे भोजन तैयार करते समय समस्त सदस्यों की रुचि का ध्यान रखा करती थीं । यदि कोई विशेष पकवान बनता और कोई सदस्य भोजन के समय अनुपस्थित रहता तो गोलाप-माँ बड़ी सावधानी से उसका भाग बचाकर रख देतीं । इस बीच उनमें सहिष्णुता और स्पष्टवादिता जैसे दो पृथक् एवं विरोधी गुणों का विकास भी हुआ था । श्रीमाँ के अनेक सम्बन्धी और परिजन अशिक्षित और अप्रौढ़ थे । वे गोलाप-माँ की उपस्थिति को सह नहीं पाते थे तथा प्रायः उन्हें कटूक्तियाँ सुनाते रहते थे । कभी-कभी तो उनकी बातें इतनी तीखी होतीं कि गोलाप-माँ सह नहीं पातीं और उनकी आँखें सजल हो उठतीं । किन्तु इससे गोलाप-माँ के हृदय में कोई वैर-भावना नहीं आ पाती और दूसरे ही क्षण वे समस्त बातों को भूलकर सहज हो उठती थीं ।

स्पष्टवादिता गोलाप-माँ का दूसरा गुण था, पर यह इतनी अधिक मात्रा में विकसित हो गया था कि लोगों को वह अवगुण के समान प्रतीत होता था । कभी-कभी गोलाप-माँ का स्पष्ट कथन कटु वचन के समान दारुण प्रतीत होता तथा इससे श्रीमाँ को भी दुःख होता था ।

वे गोलाप-माँ से कहतीं, "अरी गोलाप, तू यह क्या कहती है ! कटु बात कभी नहीं कहनी चाहिए, भले ही वह सत्य हो।" गोलाप-माँ की इसी बात के सम्बन्ध में उन्होंने यह भी कहा था, "गोलाप की स्पष्टवादिता ने उसकी समस्त मधुरता को नष्ट कर दिया है।" उनकी इस प्रवृत्ति के कारण भक्तगण बहुधा गोलाप-माँ से भयभीत रहते तथा उनसे कतराया करते थे। किन्तु गोलाप-माँ में केवल ऊपरी कठोरता ही थी, उनका हृदय तो शिशु के समान सरल था। वे बड़े सहज भाव से अपनी त्रुटियों को स्वीकार कर लेतीं। पर साथ ही वे दूसरों की त्रुटियों के प्रति भी सजग रहती थीं। एक बार उन्होंने कुछ साधुओं से कहा, "सुनो, मुझे श्रीमाँ ने कल अपने स्वरूप का दर्शन कराते हुए कहा कि 'अब से किसी को कटु वचन न कहना', सो मैं वैसा ही करूंगी। लो, ये मिठाइयाँ खाओ।" युवा संन्यासीगण गोलाप-माँ के स्वभाव को दादी के चिड़चिड़े स्वभाव के समान ही मानते थे तथा उनकी कटूक्तियों को बुरा नहीं समझते थे। एक संन्यासी ने कहा, "गोलाप-माँ ! अगर तुम हर दिन सबेरे इसी प्रकार मिठाइयाँ खिलाती रहो तो तुम फिर जी-भर गालियाँ हमें दे सकती हो ! हम उसका बिलकुल बुरा नहीं मानेंगे।"

अनेक प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहने पर भी गोलाप-माँ नियमित रूप से जप-ध्यान किया करती थीं। वे ब्राह्म मुहूर्त में उठकर तीन घण्टे तक प्रतिदिन जप

करतीं। तभी तो श्रीमाँ ने कहा था, "योगीन और गोलाप ने कितनी साधनाएँ की हैं ! गोलाप ने तो जप का उच्चतम फल प्राप्त कर लिया है।" गोलाप-माँ का बाहरी कड़ापन उनकी नियमितता और व्यवस्था-प्रिय स्वभाव का ही एक रूप था। उनकी दिनचर्या अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। इसलिए वे जहाँ भी अव्यवस्था और अनियमितता देखतीं, उसे सहन नहीं कर पाती थीं। यदि कोई सदस्य विलम्ब से भोजन करने आता, अथवा यदि किसी का कमरा अस्तव्यस्त होता तो उसे गोलाप-माँ का कोपभाजन बनना पड़ता था। इसी प्रकार वे अपव्यय को भी सहन नहीं कर सकती थीं। शाक-सब्जी के निरुपयोगी डंठल वे पशुओं को खिलाया करतीं। केवल पशु-पक्षी ही नहीं प्रत्युत दीन-हीन दरिद्र जन भी गोलाप-माँ की सहानुभूति के पात्र थे। उन्हें अपने दोहते से बहुत कम राशि मिला करती थी। फिर भी वे उसका अधिकांश दरिद्रों में बाँट दिया करतीं। यदि कोई रुग्ण हुआ तो गोलाप-माँ उसकी शुश्रूषा के लिए उपस्थित हो जातीं। निस्सहाय और दरिद्र रोगियों की औषधि और पथ्य की व्यवस्था भी वे स्वयं किया करतीं। उनका परदुःखकातर स्वभाव कभी-कभी दूसरों को खलने लगता था। एक पागल स्त्री कभी भी गोलाप-माँ का नाम पुकारते हुए आ जाती और रात में प्रायः ऐसे समय आती जब लोग सो रहे होते। ऐसे अवसरों पर पगली की आवाज सुनते ही गोलाप-माँ तुरन्त उठ जातीं और

उसे कुछ खाद्य वस्तु देकर बिदा कर देतीं। यदि दूसरे लोग गोलाप-माँ के इस कार्य का विरोध करते, तो वे कहतीं, "अरे, वह निस्सहाय है और दर-दर भीख माँगकर निर्वाह करती है।" गोलाप-माँ अपनी दयालुता और दानशीलता के कारण अनेक बार ऋणग्रस्त भी हो जातीं पर वे स्वयं पर न्यूनतम राशि ही खर्च करती थीं।

ऐसे तो गोलाप-माँ व्यावहारिक दृष्टि से बड़ी नियमित और व्यवस्था-प्रिय थीं किन्तु परम्परागत आचार-विचार के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण पर्याप्त उदार था। विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं से गुजरकर उनका मन एक ऐसी भूमिका पर स्थापित हो गया था जहाँ सांसारिक आचार-विचार को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। जगदम्बा की जया और विजया नामक सखियों के समान ही गोलाप-माँ और योगीन-माँ श्रीमाँ की निरन्तर सेवा किया करती थीं। गोलाप-माँ श्रीमाँ को साक्षात् जगदम्बा के रूप में देखतीं तथा उन्हें पवित्रता का मूर्तिमान स्वरूप समझती थीं। यही कारण था कि श्रीमाँ की सेवा का प्रत्येक कार्य वे समान निष्ठा से करतीं, भले ही वह कितना भी क्षुद्र क्यों न होता। ऐसे कार्यों को करने के बाद वे सामान्य शुचिता-अशुचिता का ध्यान नहीं रखती थीं। श्रीमाँ की भतीजी नलिनी का दृष्टिकोण इस मामले में बड़ा कड़ा था। नलिनी अनेक प्रसंगों पर गोलाप-माँ को टोकती रहती थीं तथा गंगा-स्नान करने की सलाह देती थीं,

पर गोलाप-माँ उनसे कहतीं, "अगर तुम चाहो तो स्वयं गंगा-स्नान कर सकती हो। मुझे इस बात के लिए गंगा-स्नान की आवश्यकता नहीं है।" पवित्रता के सम्बन्ध में गोलाप-माँ के उदार दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए एक बार श्रीमाँ ने कहा था, "गोलाप का मन कितना पवित्र है! वह कितनी महान् है! इसीलिए वह औपचारिक शुद्धि-अशुद्धि का ध्यान नहीं रखती। वह इसकी अधिक चिन्ता नहीं करती। यह उसका अन्तिम जन्म है। तुम्हें ऐसा मन प्राप्त करने के लिए दुबारा जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।" श्रीमाँ प्रायः गोलाप-माँ के शुचितासम्पन्न मन की प्रशंसा करतीं तथा अनेक दृष्टान्त भी देतीं। वृन्दावन-प्रवास के समय एक दिन श्रीमाँ गोलाप-माँ के साथ माधवजी के मन्दिर में गयीं। मन्दिर के फर्श पर किसी के बच्चे ने गन्दगी कर दी थी। आने-जाने वाले लोग नाक-भौं सिकोड़ते थे तथा फिकरा कसते जाते थे किन्तु किसी ने स्थान को साफ करने का प्रयत्न नहीं किया। गोलाप-माँ ने देखते ही अपनी नयी साड़ी को फाड़कर उस स्थान को साफ किया और जल से पोंछ दिया। इस पर दर्शकों में से किसी ने कहा कि सम्भवतः उन्हीं के लड़के ने गन्दगी की होगी। पर दूसरों ने बताया कि ये तो संन्यासिनी हैं इन्होंने इसलिये मन्दिर को साफ किया है जिससे दूसरों को असुविधा न हो। इसीप्रकार, गोलाप-माँ की गंगा पर भी अद्भुत भक्ति थी। वे यदि देखतीं कि किसी ने घाट

पर गन्दगी कर दी है तो वे तुरन्त उसे कपड़े से साफ करतीं और फिर स्थान को जल से धोडालतीं। गोलाप-माँ के चरित्र के इस गुण पर प्रकाश डालते हुए श्रीमाँ ने कहा था, "अगर दूसरों को शान्ति मिले तो गोलाप-भी शान्ति का अनुभव करती है। किसी का मन इस जीवन में इसप्रकार तभी पवित्र हो सकता है जब उसने इस जीवन में और अपने पूर्व जीवन में आध्यात्मिक साधनाएँ की हों।"

पवित्रतास्वरूपिणी श्रीमाँ की निरन्तर सेवा करते करते गोलाप-माँ का जीवन स्वतः पवित्र हो गया था। अपनी मृत्यु के विषय में वे पूर्ण निश्चिन्त थीं। वे कहा करती थीं, "योगीन शुक्ल पक्ष में जाएगी और मैं कृष्ण पक्ष में।" ठीक अपने कथनानुसार गोलाप-माँ ने लग-भग साठ वर्ष की अवस्था में कृष्ण पक्ष में १९ दिसम्बर सन् १९२४ को इस धरा धाम से प्रयाण किया। वे एक महान् आत्मा थीं तथा युगावतार के कार्यों में सहयोग देने के लिए आयी थीं। उनका भगवदर्पित जीवन अनेक व्यक्तियों के लिये प्रेरणा का स्रोत था। योगीन-माँ और गोलाप-माँ तो जगदम्बास्वरूपिणी श्रीमाँ की चिर सहचरी थीं। पौराणिक युग में वे जया और विजया के रूप में जगदम्बा के साथ थीं तथा आधुनिक युग में उन्होंने इन नये रूपों में जगन्माता के साथ लीलाएँ की थीं। तभी तो श्रीमाँ ने उनके सम्बन्ध में कहा था, "वे तो अपनी ही हैं प्रत्येक युग में उन्हें आना होता है।"

●

गीता प्रवचन-८

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

पिछले प्रवचन में हमने कहा था कि महाभारत-कालीन समाज विज्ञान की दृष्टि से बड़ा उन्नत था। इसका पता हमें महाभारत में वर्णित विभिन्न प्रक्षेपास्त्रों के विवरण से लगता है। पिछली बार हमने बतलाया था कि इन प्रक्षेपास्त्रों को आज का विज्ञान 'मिसाइल्स' कहकर पुकारता है। ये प्रक्षेपास्त्र अपना काम करके चलाये जानेवाले के पास वापस लौट आते थे, ऐसा भी महाभारत में लिखा मिलता है। आग्नेयास्त्र अग्नि की वर्षा करता था तो वारूणेयास्त्र जल बरसाता था। ब्रह्मास्त्र ऐसा अमोघ अस्त्र था जिसकी विनाशकारी शक्ति की बराबरी नहीं थी। महाभारत में इन सब अस्त्र-शस्त्रों के नाम और उपयोग तो मिलते हैं, पर उनका technical know-how या technical details यानी उनका यन्त्र-विज्ञान हमें उसमें नहीं प्राप्त होता। इससे कुछ लोग शंका करते हैं कि महाभारत में लिखी इन सब बातों का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, बल्कि वे सब काल्पनिक हैं। उनका तर्क यह है कि यदि उस युग में भारत में विज्ञान इतनी बढ़ती पर था तो उस विज्ञान का एकाएक लोप इस भूमि से कैसे हो गया? यह तर्क पर्याप्त वजनी है। भारत का विगत एक हजार वर्ष का

इतिहास इतना धुँधला और अन्धकारपूर्ण रहा है कि वास्तविक ही शंका होती है भारत के गौरवमय अतीत पर। पर दूसरी ओर इस गरिमामण्डित अतीत की घोषणा करनेवाले स्मृतिचिह्न आज हमें उपलब्ध हैं जिनके बल पर हमें अपने विगत शौर्य, वीर्य, तेज और बहुमुखी प्रतिभा का पता चलता है। अतएव, कहा जा सकता है कि महाभारत के युग में भारत भौतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। जीवन के हर क्षेत्र में उसने उल्लेखनीय प्रगति की थी––क्या शिल्प, क्या रसायन, क्या युद्ध-कला, क्या साहित्य और क्या धर्म-दर्शन, प्रत्येक अंग ही उस काल में सुपुष्ट दिखायी देता है। फिर महाभारत का भीषण नर-संहार हुआ और उसके साथ ही सारी विद्या भी नष्ट हो गयी। विद्या तो पुरुषों का आश्रय लेकर चलती है। जब पुरुष ही मारे गये तो अवलम्ब के अभाव में विद्या भी मृत हो गयी ऐसा प्रतीत होता है।

महाभारत से पता चलता है कि उस युद्ध में दोनों ओर मिलाकर कुल अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं। एक अक्षौहिणी सेना में १,०९,३५० पैदल, ६५,६१० घोड़े, २१,८७० रथ तथा २१,८७० हाथी हुआ करते थे। इस हिसाब से यदि रथ और हाथी में एक-एक सवार के अलावे एक सारथि और एक महावत को पकड़ें, तो १८ अक्षौहिणी सेना में कुल ४७,२३,९२० मनुष्य होते हैं। और हम महाभारत में ही पढ़ते हैं कि युद्ध के

उपरान्त पाण्डवों को मिलाकर मात्र १०–१५ ही योद्धा शेष रहे, बाकी सब तो युद्ध की विभीषिका में स्वाहा हो गये। अब कल्पना कीजिए कि वह नर-संहार कैसा भयानक रहा होगा! महाभारत हमें बताता है कि इतना बड़ा नर-संहार इसके पहले कभी नहीं हुआ था। धरा रक्त से सिंचित हो गयी थी। उस विकराल संहार ने विश्व को ही मानो खत्म कर दिया था, क्योंकि तत्कालीन समस्त परिचित भू-भागों से योद्धागण उस युद्ध में भाग लेने के लिये आये हुए थे।

उस युग में युद्ध की परिपाटी भी कुछ विचित्र-सी प्रतीत होती है। युद्धेच्छु दोनों दल तत्कालीन राजाओं के पास सहायता माँगते हुए सन्देशा भेजते। जिस दल का अनुरोध पहले पहुँचता, राजा उसके अनुरोध को स्वीकार कर लेता और अपनी बड़ी सेना लेकर युद्ध में भाग लेने के लिए आ जाता। हो सकता है कि उस राजा की सहानुभूति दूसरे दल के साथ है, पर चूँकि पहले दल का आमंत्रण उसे पहले मिला है इसलिए परम्परा के अनुसार उसे पहले दल का ही साथ देना पड़ता। यही उस परिपाटी की विचित्रता थी। इसका दृष्टान्त हमें श्रीकृष्ण के जीवन में दिखायी देता है। दुर्योधन और अर्जुन दोनों युद्ध के लिए सहायता की याचना करने श्रीकृष्ण के पास जाते हैं। दुर्योधन पहले पहुँचा। श्रीकृष्ण सोये हुए थे। अतः वह श्रीकृष्ण के सिरहाने जाकर बैठ जाता है और उनके जागने की

प्रतीक्षा करता है। अर्जुन भी इतने में वहाँ पहुँचा और दुर्योधन को सिरहाने बैठा देखा वह श्रीकृष्ण के पैताने बैठ गया। जब भगवान् उठे तो पैरों की ओर बैठे अर्जुन पर उनकी दृष्टि पहले पड़ी और बाद में उन्होंने दुर्योधन को देखा। दोनों से आने का कारण जब भगवान् को मालूम पड़ा तो उन्होंने कहा कि चूंकि अर्जुन को उन्होंने पहले देखा है इसलिए अर्जुन का अनुरोध वे पहले स्वीकार करेंगे। इस पर दुर्योधन ने आपत्ति करते हुए कहा कि वह तो फिर पक्षपात और अनुचित होगा। वह बोला, 'मैं पहले आया हूँ अतः मेरा अनुरोध पहले स्वीकार होना चाहिए।' अन्त में, जैसा कि हम पढ़ते हैं, भगवान् कृष्ण ने एक ओर अपने को रखा और दूसरी ओर अपनी एक अक्षौहिणी चतुरंगिणी सेना को। फिर दुर्योधन से उन्होंने इन दोनों में से कोई भी एक चुन लेने को कहा। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के मुकाबले एक अक्षौहिणी सेना ही चुनी। इस कथा से हमें उस युग की परिपाटी की एक झलक मिलती है।

तो, हम कह रहे थे कि तत्कालीन विश्व के समस्त भू-भागों के राजागण अपने धुरन्धर शूर-वीरों को ले कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्मिलित हुए थे। इनमें से कई लुप्त अस्त्र-शस्त्रों के जानकार थे। वे लोग प्रचण्ड रण-बाँकुरे थे और युद्धविद्या की सूक्ष्मताओं से परिचित थे। पर दुर्भाग्य ऐसा हुआ कि वे सबके सब युद्ध में खेत हो रहे और उनके साथ उनकी विद्या भी लुप्त हो गयी।

इसीलिए महाभारत ग्रन्थ, जो कि युद्ध के पचास वर्ष बाद ग्रथित हुआ, प्रक्षेपास्त्रों का यन्त्र-विज्ञान न दे सका। कारण यह था कि जो उसके जानकार थे, वे तो युद्ध में हत हो गये थे। केवल अस्त्रों का परिचय और उपयोग मात्र ज्ञात था, अतः उतना ही वर्णन हमें महाभारत ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

एक बार अलबर्ट आइन्स्टीन से किसी ने प्रश्न किया, "अच्छा महाशय, यह बताइय कि तृतीय महायुद्ध के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?" उस समय अणुबम बन चुके थे और द्वितीय महायुद्ध में उसका प्रयोग जापान पर किया जा चुका था। उसकी भयंकरता को दृष्टिगत करते हुए प्रश्नकर्ता ने आइन्स्टीन से उपर्युक्त प्रश्न पूछा था। प्रश्न सुनकर आइन्स्टीन कुछ देर मौन हो रहे, फिर धीरे से बोले, "यह तो मैं नहीं जानता कि तृतीय महायुद्ध का स्वरूप कैसा होगा। पर यदि कहीं चतुर्थ महायुद्ध हुआ तो लोग लकड़ी और पत्थर से लड़ेंगे !"

कितना सटीक और अर्थपूर्ण उत्तर है यह ? इससे सम्भावित तृतीय महायुद्ध की विकरालता का बोध होता है। आइन्स्टीन मानते हैं कि तृतीय महायुद्ध इतना भयंकर होगा कि वह विश्व की समस्त संस्कृति और सभ्यता को नष्ट कर देगा; लोग आदिम अवस्था में पहुँच जायेंगे और एक दूसरे से लकड़ी और पत्थर से लड़ेंगे। कल्पना कीजिए कि तृतीय महायुद्ध हुआ (भगवान् करे

कि ऐसा न हो)। उसके पश्चात् कुछ संस्कारवाले लोग बच रहे और उन्होंने अपने युग का इतिहास लिखने की ठानी। तो वे विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों और मिसाइल्स आदि का वर्णन तो कर लेंगे पर उनका यन्त्र-विज्ञान, उनका technical know-how न लिख पायेंगे; क्योंकि उस विज्ञान के ज्ञाता ही तब न बचे रहेंगे। महाभारत-ग्रन्थ भी बहुत-कुछ इसी प्रकार का इतिहास है।

एक और शंका पर विचार कर लें। कुछ लोग भगवान् कृष्ण पर पक्षपात का दोषारोपण करते हुए कहते हैं कि उन्होंने अनुचित रूप से पाण्डवों का साथ दिया और कौरवों से द्रोह किया। उन लोगों के मतानुसार कौरवों को ही राज्य-प्राप्ति का अधिकार था, पाण्डवों को नहीं। अतएव वे लोग कहते हैं कि पाण्डवों का राज्य पर अधिकार का दावा करना न्यायोचित नहीं था। पर यदि हम महाभारत के युग में राज्य के अधिकार सम्बन्धी विधि-नियमों को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन कानून की दृष्टि से पाण्डव ही राज्य के अधिकारी थे, कौरव नहीं। यह ठीक है कि धृतराष्ट्र बड़े थे और पाण्डु छोटे और सामान्य दृष्टि से धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्र ही राज्य के अधिकारी थे, पर विधान यह कहता था कि अन्ध और विकलांग व्यक्ति राज्य का अधिकारी नहीं बन सकता। अतएव धृतराष्ट्र के बदले न्यायोचित रूप से पाण्डु को राजा घोषित किया गया। पाण्डु की अकालमृत्यु से शासन की बागडोर

धृतराष्ट्र के हाथों में आयी और वे इसलिए राज-काज सँभालने लगे कि उनके और पाण्डु के पुत्र तब छोटे थे। सभी राजपुत्रों में युधिष्ठिर बड़े थे, इसलिए वयःप्राप्त होने पर राज्य उन्हीं को मिलता। पर दुर्योधन इसे कैसे सह सकता था ? अतएव दुर्योधन के हितैषियों ने यह प्रचार करना शुरु कर दिया कि भले ही युधिष्ठिर का जन्म पहले हुआ हो और दुर्योधन का बाद में, पर दुर्योधन अपनी माता के गर्भ में पहले ही आ गया था। महाभारत में हम पढ़ते हैं कि दुर्योधन अपनी जननी के गर्भ में दो वर्ष पड़ा रहा। तो इस बात को प्रमाण के तौर पर उपस्थित कर दुर्योधन के हितैषी यह प्रचार करने लगे कि दुर्योधन वस्तुतः युधिष्ठिर से बड़ा है, इसलिए राज्य का अधिकार उसी को मिलना चाहिए। अन्त में राज-सभासदों ने यह निर्णय लिया कि इस विवाद को मिटाने के लिए कौरव और पाण्डव दोनों में राज्य को बराबर बराबर बाँट दिया जाय। युधिष्ठिर धर्मात्मा थे। उन्होंने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार युधिष्ठिर और दुर्योधन आधे आधे राज्य के भागीदार बने। इसके बाद द्यूत-क्रीड़ा में पाण्डवों को छल-कपट से कौरवों ने जीता और उन्हें बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास दिया। उचित तो यही था कि वनवास और अज्ञातवास से लौटने के बाद पाण्डवों को उनका आधा राज्य वापस दे दिया जाता। पर दुर्योधन इसके लिए तैयार नहीं हुआ। हम

महाभारत में पढ़ते हैं कि दुर्योधन को समझाने की सारी चेष्टाएँ विफल हो गयीं। अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर आते हैं, पर वह उस प्रस्ताव को भी अमान्य कर देता है। पाण्डवों के हृदय की विशालता को तो देखिए। युधिष्ठिर, जिन्हें पूरा राज्य पाने का अधिकार था, आधा राज्य के स्वामी बनकर उसे भी कौरवों के छल-कपट से गँवा बैठते हैं और अन्त में एक भाई के लिए एक गाँव के हिसाब से पाँच गाँव मिलने से सन्तोष कर लेने की घोषणा करते हैं। वे श्रीकृष्ण से कहते हैं (म. भा., उद्योगपर्व, ७२।१५–१७)—

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कंचिदेवात्र पंचमम् ॥
पंच नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ॥
न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥

—'गोविन्द ! मैंने धृतराष्ट्र से यही कहा था कि तात ! आप हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और अन्तिम पाँचवाँ कोई-सा भी गाँव जिसे आप देना चाहें, दे दें। इस प्रकार हमारे लिए पाँच गाँव या नगर दे दें; जिनमें हम पाँचों भाई एक साथ मिलकर रह सकें और हमारे कारण भरतवंशियों का नाश न हो। परन्तु दुष्टात्मा दुर्योधन सब पर अपना ही अधिकार

मानकर उन पाँच गाँवों को भी देने की बात नहीं स्वीकार कर रहा है। इससे बढ़कर कष्ट की बात और क्या हो सकती है?'

जो चक्रवर्ती सम्राट् रह चुके हैं उन युधिष्ठिर की माँग कितनी सामान्य है! पर अधर्मी दुर्योधन पाँच गाँव देने की कौन कहे, सूई की नोक बराबर जमीन भी पाण्डवों को नहीं देना चाहता। वह पाण्डवों को नष्ट कर देने पर तुला है और युद्ध की सारी तैयारियाँ कर रहा है। सन्धि-प्रस्ताव लेकर जब श्रीकृष्ण कौरव-सभा में गये तो तरह तरह से उन्होंने दुर्योधन को युद्ध की व्यर्थता के सम्बन्ध में समझाया और अन्त में कहा (उ. प., १२४/५८-६२)—

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ।।
अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ।।
त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।।
मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ।।
पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः ।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ।।

—'दुर्योधन! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियों की ओर तो देखो। ये श्रेष्ठ

भरतवंशी तुम्हारे कारण कहीं नष्ट न हो जायँ। नरेश्वर! कौरववंश बचा रहे, इस कुल का पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्ति का नाश करके कुल-घाती न कहलाओ। महारथी पाण्डव तुम्हीं को युवराज के पद पर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्र को महाराज के पद पर बनाये रखेंगे। तात! अपने घर में आने को उद्यत हुई राजलक्ष्मी का अपमान न करो। कुन्ती के पुत्रों को आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्ति का उपभोग करो। पाण्डवों के साथ सन्धि करके और अपने हितैषी सुहृदों की बात मानकर मित्रों के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकाल तक कल्याण के भागी बने रहोगे।'

पर दुर्योधन के सिर पर तो काल नाच रहा था। उसे भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, विदुर और धृतराष्ट्र ने भी श्रीकृष्ण की बात मान लेने की सलाह दी, पर दुर्बुद्धि दुर्योधन अपने अहितकारी निश्चय से टस से मस न हुआ। उसने श्रीकृष्ण को दो टूक उत्तर देकर सन्धि की सारी सम्भावना ही समाप्त कर दी। उसने कहा (उद्योगपर्व, १२७।२५)–

ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति।।

––'केशव! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधन के जीते-जी पाण्डवों को भूमि का उतना अंश भी नहीं दिया जा

सकता, जितना कि एक बारीक सूई की नोक से छिद सकता है ।'

दुर्योधन अधर्म का प्रतीक है और युधिष्ठिर धर्म के। महाभारत का युद्ध कौरवों और पाण्डवों के बीच तो होता है, पर वह असल में अधर्म और धर्म का युद्ध है। जिस किसी प्रकार हम विवेचना करें, हम देखेंगे कि पाण्डवों ने सदैव धर्म का ही पक्ष लिया। कौरवों में पाण्डवों के प्रति सतत विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित होती रहती थी। दुर्योधन ने पाण्डवों को लांछित और अपमानित करने में कोई कोर-कसर न रखी। पहली बार द्यूत-क्रीड़ा में जब युधिष्ठिर सब कुछ गँवा बैठते हैं, उस समय पाण्डवों के प्रति दुर्योधन के वर्तन का ख्याल करें। द्रौपदी आखिर कुरुवंशियों की ही बहू थी और उसका भरी सभा में किस प्रकार अपमान किया गया वह हम सभी जानते हैं। आज का समाज अधर्म और अन्याय से कितना भी ग्रस्त क्यों न हो, पर सार्वजनिक रूप से किसी नारी का यदि उस प्रकार अपमान किया जाय तो वह चुप नहीं बैठेगा। पर दुर्योधन की राजसभा को देखिये। एक से एक धुरन्धर धर्मवेत्तागण वहाँ बैठे हैं! द्रौपदी अपनी लज्जा को किसी प्रकार बचाते हुए करुण स्वर से धर्म की दुहाई देकर सभासदों से न्याय माँगती है और पूछती है कि उसका इस प्रकार अपमान किया जाना क्या धर्मसंगत है? और ये धर्म के ज्ञाता भीष्मपितामह, आचार्य द्रोण और कृप, पितातुल्य धृतराष्ट्र सबके सब

सिर गड़ा लेते हैं, द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर नहीं देते। यही अधर्म की पराकाष्ठा है। जहाँ धर्म अधर्म के सामने इस प्रकार चुप हो जाता है, अपना मुँह बन्द कर लेता है, सिर झुका लेता है, ऐसा धर्म 'धर्म' नाम के योग्य ही नहीं है, बल्कि वह अधर्म से भी बढ़कर खतरा उत्पन्न करता है। यह है दुर्योधन और उसके दरबार का स्वरूप जहाँ उसके स्वयं के कुल की नारी का इस प्रकार घोर अपमान किया जाता है।

तभी तो महाभारत के युद्ध में जब अर्जुन भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि को पूज्य कहकर उनसे लड़ने की अनिच्छा दिखाता है, तो कृष्ण उसे धिक्कारते हैं। जिन भीष्म और द्रोण आदि ने अधर्म का पक्ष स्वीकार किया हो और धर्म के ज्ञाता कहाकर अधर्म होते देख भी अपनी आँखें मूंद ली हों, उन्हें मारने में किसी प्रकार का दोष श्रीकृष्ण नहीं देखते। उन्हें छल-कपट से मारना भी न्याय्य है। ऐसे लोग अधर्मियों की अपेक्षा भी अधिक खतरनाक हैं।

इसीलिए गीता में हम 'युध्यस्व' का स्वर सुनते हैं। श्रीकृष्ण वास्तव में धर्म को भी उसी प्रकार aggressive आक्रामक होते देखना चाहते हैं जिस प्रकार अधर्म आक्रामक हुआ करता है। यह तो हम सभी जानते हैं कि अधर्म कितना आक्रामक होता है, वह समाज को बलपूर्वक अपने शिकंजे में लाना चाहता है। अधर्म का चलना ही डर और धमकी की डगर से होता

है पर धर्म, स्वभाव से, आक्रामक नहीं हो पाता। धर्म के क्षेत्र में संगठन शिथिल होता है। धर्म के पक्षधर लोग goody–goody किस्म के 'भले–मानुष' हुआ करते हैं जो अपने जीवन में तो धर्माचरण के लिए सचेष्ट होते हैं पर दूसरों पर दुष्टों का आक्रोश देख चुपचाप किनारा काट लेते हैं, सामने आकर अन्याय का प्रतीकार करने का साहस नहीं बटोर पाते। श्रीकृष्ण धर्म के इस goody–goody भाव को, सदाशयता के इस प्रदर्शन मात्र को पसन्द नहीं करते। वे तो शठ से शठता करने में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में दुर्योधन और भीष्मपितामह आदि में व्यावहारिक दृष्टया अधिक अन्तर नहीं है, इसीलिए अर्जुन को वे युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं।

यदि अर्जुन युद्ध छोड़कर चला जाता तो कौरव-पक्ष की विजय होती, यानी अधर्म धर्म को दबोच बैठता। तब तो लोग यही कहते कि भाई, सत्य की विजय नहीं होती, धर्म की जीत नहीं हुआ करती; वास्तव में अधर्म और असत्य ही विजयश्री प्राप्त करते हैं। और ऐसी धारणा के वशीभूत हो समाज पशुओं से भी बदतर बन जाता। इसीलिए महाभारत का युद्ध होता है और भगवान् कृष्ण धर्म के पक्षधर बनते हैं। यह सत्य है कि यदि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित नहीं किया होता, तो युद्ध नहीं होता। युद्ध न होता तो वह भयानक नरसंहार भी न होता। पर प्रश्न यह नहीं था कि कितने

लोग युद्ध में मौत के घाट उतरते हैं, प्रश्न यह था कि धर्म बचता है या नहीं। इसी दृष्टि से श्रीकृष्ण के समस्त प्रयत्नों को आँकना होगा। वे तो भरसक प्रयत्न करते हैं कि युद्ध टल जाय और सम्मानपूर्वक समझौता कौरवों और पाण्डवों में हो जाय। पर दैव का विधान ही ऐसा रहा कि दुर्मति दुर्योधन किसी भी प्रकार समझौते के लिए राजी नहीं हुआ।

इससे स्पष्ट है कि युद्ध कराने का दोष कृष्ण पर नहीं थोपा जा सकता। भले ही गान्धारी ने युद्ध के उपरान्त अपने निहत पुत्रों के विरह में कृष्ण को ही युद्ध के लिए दोषी ठहराया और उन्हें श्राप दिया, पर यह वही गान्धारी थीं जिन्होंने दुबारा द्यूत-क्रीड़ा से पूर्व धृतराष्ट्र के सामने दुर्योधन को भला-बुरा कहा था और उन्हें दुर्योधन को त्याग देने की सलाह दी थी। उनके वचन तो सुनिये। जब धृतराष्ट्र दुबारा पाण्डवों के साथ द्यूत-क्रीड़ा के लिए दुर्योधन को स्वीकृति दे देते हैं तो गान्धारी उन्हें चेतावनी देते हुए कहती हैं (सभापर्व, ७५।२-१०)–

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥
व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥
मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥

मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद् धमेच्छान्तं च पावकम् ।।
शमे स्थितान् को नु पार्थान् कोपयेद् भरतवर्षभ ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ।।
शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन ।।
त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ।।
तथा ते न कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ।।
शमेन धर्मेण नयेन युक्ता या ते बुद्धिः सास्तु मे प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ।।

—'आर्यपुत्र ! दुर्योधन के जन्म लेने पर परम बुद्धिमान् विदुरजी ने कहा था—यह बालक अपने कुल का नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये । भारत ! इसने जन्म लेते ही गीदड़ की भाँति हुँआ-हुँआ का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुल का अन्त करनेवाला होगा । कौरवो ! आप लोग भी इस बात को अच्छी तरह समझ लें । भरतकुलतिलक ! आप अपने ही दोष से इस कुल को विपत्ति के महासागर में न डुबाइये । प्रभो ! इन उद्दण्ड बालकों की हाँ में हाँ न मिलाइये । इस कुल के भयंकर विनाश में स्वयं ही कारण न बनिये । भरतश्रेष्ठ ! बँधे हुए पुल को कौन तोड़ेगा ? बुझी हुई वैर की आग को फिर कौन भड़कायेगा ? कुन्ती के

शान्तिपरायण पुत्रों को फिर कुपित करने का साहस कौन करेगा ? अजमीढ-कुल के रत्न ! आप सब कुछ जानते और याद रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण दिलाती रहूँगी। राजन् ! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी भला-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता। मन्दबुद्धि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता। आपके पुत्र आपके ही नियंत्रण में रहें ऐसी चेष्टा कीजिये। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादा का त्याग करके प्राणों से हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापे में छोड़कर चल बसें। इसलिए आप मेरी बात मानकर इस कुलांगार दुर्योधन को त्याग दें। महाराज ! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया। अतः समझ लीजिए, उसी का यह फल प्राप्त हुआ है, जो समूचे कुल के विनाश का कारण होने जा रहा है। शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीति से युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिए। क्रूरतापूर्ण कर्मों से प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्ताव से बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रों तक चली जाती है।'

गान्धारी के ऐसा कहने पर धृतराष्ट्र ने जो उत्तर दिया वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं (वही ७५।११)--

अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ।।

--'देवि ! इस कुल का अन्त भले ही हो जाय, परन्तु

में दुर्योधन को रोक नहीं सकता।'

इसके बावजूद भी यदि भगवान श्रीकृष्ण को युद्ध कराने का दोष दिया जाय तो वह तो दोष देनेवालों का ही दोष है। दुर्योधन युद्ध ही चाहता था और वह तो पहले से उसकी तैयारियाँ कर रहा था। अन्ततोगत्वा युद्धभूमि में सेनाएँ सजने लगीं और दोनों ओर से युद्ध हेतु व्यूह-रचना की जाने लगी। ऐसे समय भगवान् व्यास धृतराष्ट्र के पास आये और उन्होंने धृतराष्ट्र को समझाने का अन्तिम प्रयास किया। उन्होंने ज्योतिष के बल पर भावी अनर्थ की ओर धृतराष्ट्र का ध्यान खींचा और उनके दोषों की ओर संकेत करते हुए कहा (भीष्म-पर्व, ३।५७-५८)--

> लुप्तंधर्मा परेणासि धर्मं दर्शय वै सुतान्।
> किं ते राज्येन दुर्धर्षं येन प्राप्तोऽसि किल्बिषम्॥
> यशो धर्मं च कीर्तिं च पालयन् स्वर्गमाप्स्यसि।
> लभन्तां पाण्डवा राज्यं शमं गच्छन्तु कौरवाः॥

--'राजन्! यद्यपि तुम धर्म का बहुत लोप कर चुके हो, तो भी मेरे कहने से अपने पुत्रों को धर्म का मार्ग दिखाओ। ऐसे राज्य से तुम्हें क्या लेना है, जिससे पाप का भागी होना पड़ा। धर्म की रक्षा करने से तुम्हें यश, कीर्ति और स्वर्ग मिलेगा। अब ऐसा करो, जिससे पाण्डव अपना राज्य पा सकें और कौरव भी सुख-शान्ति का अनुभव करें।'

इस पर धृतराष्ट्र बोले (वही, ३।६०-६१)--

स्वार्थे हि सम्मुह्यति तात लोको मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि ।
न चापि ते मद्वशगा महर्षे न चाधर्मं कर्तुमर्हा हि मे मतिः ।

—'तात ! सारा संसार स्वार्थ से मोहित हो रहा है, मुझे भी सर्वसाधारण की ही भाँति समझिये । मेरी बुद्धि भी अधर्म करना नहीं चाहती, परन्तु क्या करूँ ? मेरे पुत्र मेरे वश में नहीं हैं ।

महर्षि व्यास ने देख लिया कि धृतराष्ट्र का मोह-रोग असाध्य है, समझाने का उन पर कोई फल नहीं होने वाला है । अतः सामान्य वार्तालाप के अनन्तर कहा, "बेटा ! तेरे पुत्रों और अन्य राजाओं का काल आ पहुँचा है; वे युद्ध में एक दूसरे का संहार करने को तैयार हैं । यदि तुम संग्राम में इन सबको देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान कर सकता हूँ । इससे तुम वहाँ का युद्ध भलीभाँति देख सकोगे ।" इस पर धृतराष्ट्र बोले, "ब्रह्मर्षिवर ! युद्ध में मैं अपने कुटुम्ब का वध नहीं देखना चाहता । आजीवन मेरी आँखें बन्द रहीं । जब से मैं जन्मा हूँ, अन्धा ही जन्मा हूँ । मैंने संसार की कोई भी वस्तु नहीं देखी । अब जब कि भाई से भाई लड़ने को तैयार है, आत्मीय-स्वजन एक दूसरे को मारने-काटने के लिए उद्यत हैं, तो क्या अन्त में कुल का यह संहार ही आँखें लेकर देखूं ? नहीं नहीं, महाभाग ! मैं वह सब नहीं देखना चाहता । पर हाँ,

इतनी प्रार्थना अवश्य करूँगा कि आप ऐसी कुछ व्यवस्था कर जाइये जिससे युद्ध का पूरा समाचार सुन सकूँ।"

इस पर व्यासजी ने संजय को दिव्य दृष्टि का वरदान दिया और वे धृतराष्ट्र से बोले, "राजन्! यह संजय तुम्हें युद्ध का वृत्तान्त सुनायेगा। सम्पूर्ण युद्धक्षेत्र में कोई भी बात ऐसी न होगी जो इससे छिपी रहे। यह दिव्यदृष्टि से सम्पन्न और सर्वज्ञ हो जायगा। सामने हो या परोक्ष में, दिन में हो या रात में, अथवा मन में सोची हुई ही क्यों न हो, वह बात भी संजय को मालूम हो जायगी। इसे शस्त्र नहीं काट सकेंगे, परिश्रम कष्ट नहीं पहुँचा सकेगा तथा यह युद्ध-भूमि से बिना किसी प्रकार आहत हुए निकल आयेगा।"

यह कहकर भगवान् वेदव्यास चले गये। उधर युद्ध शुरु हो गया और व्यवस्था के अनुसार संजय प्रतिदिन युद्ध का आँखों-देखा हाल महाराज धृतराष्ट्र को सुना जाते। इस प्रकार नौ दिन बीत गये। युद्ध के दसवें दिन कौरवों के प्रथम सेनापति भीष्मपितामह अर्जुन के बाणों से धराशायी हो गये और शरशय्या पर सोकर अपने मर्त्य शरीर को छोड़ने के लिए शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करने लगे। उस दिन संजय संग्रामभूमि से शीघ्र लौट आये और बहुत दुःखी होकर धृतराष्ट्र से बोले, "महाराज! मैं संजय हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ। शान्तनुनन्दन भीष्मजी युद्ध में मारे गये। जो समस्त योद्धाओं के शिरोमणि और धनुर्धारियों का सहारा थे,

वे कौरवों के पितामह आज बाणशय्या पर सो रहे हैं।"

जब धृतराष्ट्र ने भीष्मपितामह के आहत होने का समाचार सुना तो वे स्तब्ध रह गये। थोड़ी देर के लिए वे कुछ सोच ही न पाये। जब शोक का वेग कुछ कम हुआ तो उन्हें युद्ध का पूरा समाचार प्रारम्भ से ही जानने की इच्छा हुई। वैसे तो प्रतिदिन ही संजय उन्हें युद्ध का समाचार दे देते, पर अब धृतराष्ट्र विस्तार से ही सब सुनना चाहते थे कि युद्ध की शुरुवात किस प्रकार हुई। इसी उद्देश्य से धृतराष्ट्र ने संजय से वह प्रश्न पूछा जो श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम श्लोक के रूप में हमारे सामने आता है तथा जिसकी चर्चा हम अपने अगले प्रवचन में करेंगे। (क्रमश:)

●

देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं—क्या होगा रे इन जड़ पिण्डों से? मैं हिलाडुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ। इसलिए मैंने प्राणान्त प्रण किया है। वेदान्त के अमोघ मन्त्र से उन्हें जगाऊँगा। 'उत्तिष्ठत जाग्रत' इस अभयवाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। तुम लोग इस काम में मेरे सहायक बनो।

—स्वामी विवेकानन्द

संगीतज्ञ स्वामी विवेकानन्द

डा. अरुण कुमार सेन

स्वामी विवेकानन्दजी के लिए रोमाँरोलाँ ने निम्न शब्दों का प्रयोग किया है, "उनके शब्द बीथोव्हेन की संगीत-शैली के समान महान् हैं। उनकी कृतियों में हेंडल के समूह-गानों के सदृश अद्भुत लय-साम्य है। उनके तीस वर्षों की साधना जिसका स्वरूप उनके विभिन्न ग्रन्थों में बिखरा हुआ है, का मुझे जब साक्षात्कार होता है तो शरीर विद्युत्-शक्ति के स्पर्श सदृश सचेतन हो उठता है।" विवेकानन्द शब्दों के ही नायक नहीं, संगीत के भी एक कुशल नायक थे। स्वामीजी को शास्त्रीय संगीत का उच्च कोटि का ज्ञान था। उनका कण्ठ-स्वर अत्यन्त मधुर था एवं जब वे गाते थे तब स्वयं श्रीरामकृष्णदेव भावावेश में विह्वल हो जाते थे। ऐसा उल्लेख है कि स्वामीजी से उनके भ्रमणकाल में ध्रुपद गायक एकनाथ पंडित की मुलाकात हुई थी। स्वामीजी की इच्छा हुई कि वे एकनाथ पंडित के साथ पखावज बजायें। उनके पखावज-वादन से पंडितजी को पूर्ण सन्तोष हुआ था। एकनाथ पंडित के आश्चर्य का तब ठिकाना न रहा जब स्वामीजी स्वयं तानपूरा लेकर ध्रुपद गाने लगे। ध्रुपद प्रारम्भ होने पर पखावज में संगति की समस्या आयी। पंडितजी को पखावज बजाना नही आता था। स्वामीजी ने झट तानपूरा उनके

हाथों में दे दिया एवं स्वयं पखावज बजाकर गाने लगे। पंडितजी ने आश्चर्य से कहा, "स्वामीजी ! आप गायक ही नहीं, बल्कि आप नायक भी हैं।" नायक की उपाधि उन संगीतज्ञों को दी जाती है जिनमें रचना एवं प्रदर्शन, गायन एवं वादन सभी की सम्मिलित शक्ति निहित होती है। ध्रुपद जैसे कठिन लयकारी के गीत गाते हुए स्वयं पखावज पर संगति करना संगीत-समाज को भी आश्चर्यचकित कर देता है एवं वह स्वामीजी की अलौकिक शक्ति का परिचायक है। स्वामीजी ने वेणीमाधव अधिकारी एवं उस्ताद अहमद खाँ से ध्रुपद एवं ख्याल सीखे थे। पखावज का ज्ञान उन्हें श्री काशी घोषाल से मिला। अपनी स्वरचित कविताओं का, जो संस्कृत और बंगला में थे, उन्होंने स्वरचित धुनों में शास्त्रीय राग एवं तालों का निर्वाह करते हुए प्रदर्शन किया। स्मामीजी द्वारा रचित "खंडन भव बंधन" राग यमन ताल चौताल, "एक रूप नाम" राग बड़हंस-सारंग ताल चौताल, "नहीं सूर्य नहीं ज्योति" राग बागेश्वरी ताल अद्धा, "मुझे बारि बनवारी सैयां" कहरवा ताल की ठुमरी—ये सब उनके निपुण संगीतज्ञ एवं तालज्ञ होने का प्रमाण हैं।

'अमृत बाजार पत्रिका' के रविवासरीय मैगजीन सेक्शन में दिनांक ८ मार्च, १९६४ को एक लेख 'गायक नरेन्द्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था जिसमें उल्लेख है कि कलकत्ते में स्वामी विवेकानन्द की एक पांडुलिपि

मिली जिसमें कई रचनाएँ ताल शास्त्र पर थीं और जिसका शीघ्र प्रकाशन सम्भाव्य था। स्वामीजी स्वयं ध्रुपद शैली में गाते थे। मुरकियों से भरे हुए टप्पा ठुमरी गायन शैली से ध्रुपद शैली को वे अधिक श्रेष्ठ समझते थे। प्राचीन रागों एवं तालों पर उनकी निष्ठापूर्ण आस्था थी। पाश्चात्य संगीत के भी वे समझदार एवं प्रशंसक थे। स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि देश की वर्तमान अवस्था में ध्रुपद गान ही एकमात्र उपयोगी है एवं उसके विज्ञान का यदि कीर्तन-संगीत या भक्ति-संगीत में समावेश हो जाये तो आदर्श संगीत की सृष्टि हो सकेगी। जिन गीतों एवं वाद्यों से हृदय में अति कोमल भावसमूहों का सृजन होता है उन्हें कुछ दिनों के लिए बन्द रखकर ध्रुपद-शैली सुनने के लिए श्रोताओं को अभ्यस्त करना देश-कल्याण की दिशा में एक महान् कार्य होगा।

परमहंस रामकृष्णदेव के गीतों में एकताल, झपताल, त्रिताल, सात मात्राओं का जत ताल, आढ़ा खिमटा, आदि तालों का प्रयोग हुआ है। स्वामी विवेकानन्द द्वारा रचित गीतों में उपर्युक्त तालों के अतिरिक्त तीव्रा सूल, चौताल, तालफिरता, अद्धा आदि तालों के प्रयोग हुए हैं––विशेषकर उनके भजन एवं कीर्तनों में कुछ गीतों एवं श्लोकों को आवश्यकतानुसार बिना ताल के भी रचा गया है।

●

आन्ध्र के महान् सन्त कवि : वेमना

श्रीमती पुष्पा तिवारी
(५ बी, स्ट्रीट २४, सेक्टर १०, भिलाईनगर)

वेमना आन्ध्रप्रदेश के पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रख्यात योगी, कवि, भक्त और लेखक हैं। आन्ध्र के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण दक्षिण भारत के जनमानस में वेमना का नाम समान रूप से विख्यात है। एक आध्यात्मिक गुरु होने की अपेक्षा कहीं अधिक जनता के लोकप्रिय कवि के रूप में वे सदियों से अशिक्षित नर-नारियों की समान श्रद्धा के पात्र रहे हैं। सरल, सरस और सर्वसुलभ भाषा में लिखे उनके भक्ति-गीतों की अनुगूंज पूर्ववत् है। वेमना मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय सन्तों में महत्त्वपूर्ण और मौलिक हैं। उन्होंने गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा अपनी वैचारिक अनुभूति का प्रश्रय लेकर मानव-मन के अँधेरे कोनों को उद्भासित करने की चेष्टा की। उनके अन्तस्तल से निकले सीधे, निष्कपट और बेलाग शब्दों ने इतिहास का निर्माण किया है। उनका व्यावहारिक दर्शन औसत भारतीय के लिये सहज ग्राह्य है। उनकी विशेषता इसी बात में है कि वे गूढ़तम दार्शनिक अवधारणाओं को सीधी-सादी निश्छल प्रवाहमान भाषा में अपने निजी ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

वेमना का जन्म सन् १४१२ में आन्ध्रप्रदेश के आंगोल तालुका के मूंगाचिंतपल्ली नामक गाँव में हुआ था।

बाद में वे गुन्तूर जिले के कोंडवीडु ग्राम में बस गये थे। कोंडवीडु के राजा राच बेमारेड्डी के छोटे भाई होने के कारण उनका यौवन भोगविलास, उच्छृंखलता और वासना में बीता। किंवदन्ती है कि वे एक अत्यंत रूपवती वेश्या पर आसक्त भी थे जिसके कारण उन्होंने विवाह तक से भी इन्कार कर दिया था। कोंडवीडु पर विजय-नगर का आधिपत्य हो जाने के कारण वेमना को अपना कुछ समय अत्यन्त निर्धनता में व्यतीत करना पड़ा। पश्चात् वेश्याप्रेम के कारण ही वेमना को विरक्ति हुई और उन्होंने संन्यास ले लिया। अपनी भाभी (जिन्हें वे मातृवत् प्यार करते थे) से उन्होंने दीक्षा लेने के पूर्व कहा भी था, "अब तक मैं बड़ा मूर्ख था। मैं अभी तक न जानता था कि जिसके लिये लाखों रुपये खर्च किये और लाखों गालियाँ खायीं, वह केवल दुर्गन्ध और मलमूत्र का स्थान है। वेश्या दुनिया के कलुषित पापों की जड़ है। केवल वेश्या ही नहीं, सारा संसार भी ऐसा ही है। माता ! तुम्हारे ही द्वारा मुझे ज्ञान-दीक्षा मिली है और तुम्हारे ही कारण मैं संसार के बन्धनों से छूट गया हूँ। मैं अब इस कलुषित दुनिया में पल भर भी न रहूँगा।" उनके प्रारम्भिक तेलुगू पद्यों में यद्यपि रमणियों के रूप और भावभंगिमा का रोमांटिक वर्णन है, लेकिन आगे चलकर पूर्ण वैराग्य उनके जीवन और उद्बोधन का पर्याय हो गया।

घर छोड़कर वेमना ने योगाभ्यास किया और वन-

वन भटकने लगे। वे हमेशा मौन रहते और भिक्षा नहीं माँगते थे। भूख लगने पर पेड़ों के फल-फूल और पत्ते खा लेते। प्रारम्भ में लोग उन्हें झक्की या सनकी समझते थे, लेकिन धीरे-धीरे वेमना-रचित लघु गीतों ने जनमानस को आन्दोलित करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि उनके कुल पद्यों की संख्या १५,००० के लगभग है, फिर भी अभी ५००० के करीब पद्य ही उपलब्ध हैं। इन हजारों पदों में वेमना ने मनुष्य के प्रमाद और उसकी कमजोरियों का चित्रण ही मूलतः किया है। उनके गीत उनके अनुभव-बिम्बों का प्रक्षेप मात्र हैं। लेकिन इसके बावजूद उनमें साधारणीकरण की जबर्दस्त क्षमता है। वेमना के शब्दों ने युग-मूल्यों का निर्माण किया है। उनके गीत आकुल मानवता की नीति-संहिता सदृश थे। उनकी अभिव्यक्ति निष्कपट और प्रखर थी। वे शास्त्रार्थ और वादविवाद से उनके अनौचित्य के कारण कतराते थे। वे आजीवन सत्य के अन्वेषण में लगे रहे। मानवता की सेवा को उन्होंने अन्य सन्तों की परम्परा के अनुरूप ईश्वर-सेवा के समकक्ष घोषित किया। उनका स्पष्ट कथन था कि ईश्वर-प्रेम मनुष्य के मनोविकारों को दूर करके उसे मानव-जाति की सेवा के लिये प्रस्तुत और प्रेरित करता है। स्वयं वेमना के शब्दों में--

"चित्त शुद्धि गलिग चेसिन पुण्यबु
कों चमैनन दियु कोयुव गादु

वित्तनबु मर्रि वृक्षंबुन कुनेंत
विश्व . . . . वेमा”

(चित्तशुद्धि से जो पुण्य प्राप्त होता है, थोड़ा होने पर भी उसका फल बहुत है, जैसे वट-वृक्ष का बीज।)

“उप्पु कप्पुरं बु। नक्कि णे पोलकेंडु
चूड चूड रूचुन्न जाड वेरू
पुरुषुलदु पुण्य पुरूषुनु वेश्या
विश्व . . . . वेमा”

(जैसे नमक और कपूर एक ही रंग के हैं तो भी उनके स्वादों में भेद होता है, उसी तरह पुरुषों में भी पुण्यात्मा और पापी होते हैं।)

वेमना एक कुशल कवि थे। उनकी रचनाएँ तत्कालीन समाज-रचना का आइना होने के अतिरिक्त सहज युग-सत्यों का भांडार हैं। दन्त-कथाओं के अनुसार, कविता स्वयं ही उनकी वाणी से निर्झर की तरह प्रवाहित हो उठी थी। उनकी कविताओं में दुरूहतम दार्शनिक समस्याओं की सरलतम अभिव्यक्ति है। केवल भक्तियोग के बल पर उन्होंने चिन्तन की गूढतम अवधारणाओं को आत्मसात् कर उन्हें सर्वसुलभ बना दिया है। उनकी भाषा के व्याकरणसम्मत नहीं होने और शब्द-योजना के अत्यन्त साधारण होने पर भी वेमना आज आन्ध्र के सबसे बड़े जनकवि हैं। आन्ध्र में एक भ्रान्त धारणा अब तक फैली हुई है कि वेमना को वेदों और उपनिषदों का ज्ञान नहीं था तथा वे संस्कृत भी नहीं जानते थे।

लेकिन आधुनिक शोधकर्ताओं ने इस तर्क के विपक्ष में अनेक प्रमाण जुटाये हैं। वेमना की रचनाओं में कावेरी, श्रीरंगम आदि का उल्लेख इस बात का परिचायक है कि उन्हें तामिलनाडु और तामिल भाषा की प्रत्यक्ष जानकारी थी।

किंवदन्ती है कि एक बार उनके बड़े भाई पालकी में बैठकर कहीं जा रहे थे। वेमना कूड़ा-करकट के ढेर पर लेटे ईश्वर-भजन कर रहे थे। यह देखकर उनके बड़े भाई फूट-फूट कर रो पड़े। वेमना भी रो उठे। बड़े भाई ने पूछा, "भाई ! तुम क्यों रोते हो ?"

"मुझे देखकर तुम क्यों रोते हो ?"

"इसलिये कि मैं राजा होकर पालकी में बैठा जा रहा हूँ और तुम मेरे सगे भाई होकर भी कुत्ते की तरह इस गन्दगी के ढेर पर लेटे हो ?"

"मै इसलिये रोता हूँ कि तुम्हारी पालकी को बारह कहार उठाकर जा रहे हैं। अगले जन्म में उन सब कहारों की पालकियाँ तुम्हें उठानी पड़ेंगी और तब मैं आनन्द की अमृतवाहिनी में डुबकियाँ लगाता रहूँगा।"

अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार वेमना शैव थे, लेकिन वैष्णवों के प्रति उनके मन में कोई कलुष नहीं था। वस्तुतः वे सम्प्रदायों की संकीर्णता से परे थे। पाखंडी सन्तों, ढोंगी साधुओं और धूर्त धर्मवाहकों को वेमना की प्रखर आलोचना सहन नहीं होती थी। वे मूर्तिपूजा के भी विरुद्ध थे। उनकी यह धारणा थी कि धर्म एक

रहस्यात्मक अनुभूति है और आत्मज्ञान द्वारा ही मोक्ष सम्भव है। उन्होंने अपना एक पन्थ भी चलाया था जो अब दुर्भाग्यवश विद्यमान नही है। वेमना का सारा जीवन धर्मप्रचार में ही व्यतीत हुआ। कटार पल्ली नामक गांव में ६८ वर्ष की आयु में उन्होंने चैत्र मास की शुक्ल पक्ष की नवमी को अपना शरीर त्याग दिया। आज वेमना का शरीर मौजूद नहीं है, लेकिन गम्भीर जागतिक और आन्तरिक अनुभवों से भरे उनके पद उनका यश अक्षुण्ण बनाये हुए हैं।

●

आत्मविश्वास रख। तुम्हीं लोग तो पूर्व काल में वैदिक ऋषि थे। अब केवल शरीर बदल कर आये हो। मैं दिव्य चक्षु से देख रहा हूँ, तुम लोगों में अनन्त शक्ति है। उस शक्ति को जगा दे; उठ, उठ, लग जा, कमर कस। क्या होगा दो दिन का धन-मान लेकर? मेरा भाव जानता है?—मैं मुक्ति आदि नहीं चाहता हूँ। मेरा काम है तुम लोगों में इन्हीं भावों को जगा देना। एक मनुष्य तैयार करने में लाख जन्म भी लेने पड़ें तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

१. जीवन का मूल्य

भगवान बुद्ध को एक दिन ज्ञात हुआ कि रोहिणी नदी के जल पर बड़ा ही उग्र विवाद उत्पन्न हो गया है। इस प्रश्न पर उनके अपने ही वंश के शाक्य और कोलीय राजा एक दूसरे के शत्रु हो गये हैं। उनकी सेनाएँ युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं। बुद्ध रणस्थल पर जा पहुँचे।

"जल का मूल्य क्या है ?" बुद्ध ने यह प्रश्न दोनों पक्षों की सेनाओं से किया।

"जल निर्मूल्य है," सैनिकों ने उत्तर दिया।

"और क्षत्रिय का मूल्य ?" बुद्ध ने पुनः प्रश्न किया।

"क्षत्रिय-जीवन तो अमूल्य है, भगवन!" उत्तर मिला।

"तो तुम निर्मूल्य के लिए भला अमूल्य का बलिदान करोगे? क्या तुम्हारा विवेक यही है?" बुद्ध ने उनसे पूछा।

और दोनों ओर के सैनिक निरुत्तर हो गये, उन्होंने हथियार डाल दिये। युद्ध टल गया, रक्तपात बच गया। जीवन के मूल्य की उन्हें प्रतीति हो गयी।

२. सुशासन की बुनियाद

"आचार्य, सुशासन का लक्षण क्या है ?" चीनी सन्त चांग-चुआंग से त्सु निग ने पूछा।

"वत्स ! जिस देश का शासक शक्ति-सम्पन्न हो, वहीं सुशासन सम्भव है।" चांग-चुआंग ने जवाब दिया।

"लेकिन शासन शक्तिसम्पन्न कैसे होगा ?"

"उसके लिए तीन बातें मुख्य हैं। एक, प्रजा को खाद्यान्न का अभाव महसूस न हो। दो, आवश्यक शस्त्रास्त्रों की कमी न खटके। तीन, प्रजा शासन और शासक पर अटूट विश्वास रखे। ऐसा शासन हिलाये नहीं हिलेगा, डुलाये नहीं डुलेगा।"

"अच्छा, मगर इन तीनों में से किसी एक को छोड़ना ही पड़े, तो किसे छोड़ा जाये ?"

"शस्त्रास्त्रों का त्याग किया जा सकता है।"

"शेष दो में से भी यदि किसी को छोड़ना पड़े तो ?"

"तब खाद्यान्न को त्यागा जा सकता है।"

"खाद्यान्न को ? वह क्यों ?"

"इसलिए कि मनुष्य की मृत्यु सर्वथा निश्चित है। उससे आदमी पार नहीं पा सकता। खाद्यान्न के अभाव में कुछ लोग मर भी जायें, तो उससे कुछ बनने या बिगड़ने का नहीं है। पर प्रजा का भरोसा टूट जाये, तो शासन स्थिर नहीं रह सकता, वह डाँवाँडोल होकर विनाश के गर्त में गिर जायेगा।"

"तो फिर शासन का लक्ष्य क्या हो ?"

"शासन का लक्ष्य प्रजा के हित को छोड़ और कुछ हो ही नहीं सकता। प्रजा को सुखी देखना ही शासन का लक्ष्य होना चाहिए। शासक को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि शासन जनहित के लिए है, न कि शासन करने के लिए।"

३. दृष्टिभेद

घटना सन् १९४५ की है। डाकोर-स्थित श्रीरणछोड़जी के देवालय में महाराष्ट्र-सन्त श्री नरहरी महाराज का हरिकीर्तन चल रहा था। कीर्तन समाप्त होने पर उन्होंने घोषणा की कि थोड़ी ही देर में उस्ताद रजाक हुसैन के संगीत का कार्यक्रम होगा। यह सुनते ही श्रोताओं में से कुछ पंडित उठ खड़े हुए और बोले, "मन्दिर में एक मुस्लिम गवैये का गायन ! हरे ! हरे ! इस हिन्दू देवालय में तो आज तक किसी भी विधर्मी ने प्रवेश नहीं किया है और आपने एक मुस्लिम गवैये के संगीत के कार्यक्रम का आयोजन किया है !"

नरहरी महाराज उन पंडितों के समीप एक तबला लेकर पहुँचे और उन्होंने प्रश्न किया, "मेरे हाथों में क्या है?"

"तबला," उनमें से एक ने जवाब दिया।

"क्या तुम बता सकते हो, यह किन-किन वस्तुओं से बना है ?" उन्होंने पुन: प्रश्न किया।

"जी हाँ, लकड़ी और चमड़े से।"

"और इसी चमड़े के जूते आप लोग पहनते हैं ! किन्तु इस देवालय में प्रवेश करने के पूर्व आप उन्हें बाहर छोड़ आये हैं! है न ? क्या इसका कारण बता सकते हैं?"

"इसलिये कि वे चमड़े के बने हैं और चमड़ा अपवित्र होता है।"

"फिर इस चमड़े से निर्मित तबले को आपने कैसे अन्दर रखने दिया ?" महाराज ने तपाक से अगला

प्रश्न किया ।

यह प्रश्न सुन वे पंडित खामोश हो गये । तब सन्त बोले, "चमड़े की वस्तुओं का स्पर्श करने के पश्चात् हम हाथ-पैर जल से धोकर स्वच्छ करते हैं, किन्तु इस तबले का स्पर्श करने पर नहीं । इसका कारण यह है कि 'तबला' 'तब' अर्थात् शुद्ध करके ही 'ला' होता है। अर्थात् चमड़े को विधिपूर्वक शुद्ध करके ही तबले का निर्माण होता है। मैंने उस्ताद को निमंत्रण देने के पूर्व काफी विचार किया है और तभी उन्हें इस कार्यक्रम के लिए आग्रह किया है। आप लोग उन्हें एक मुस्लिम की दृष्टि से नहीं, वरन् एक मानव की दृष्टि से देखें और उनके संगीत का रसग्रहण करें ।"

बात उन पंडितों तथा अन्य सभी श्रोताओं को जँच गयी और उन्होंने न केवल उस्ताद का संगीत भक्तिभाव से सुना, बल्कि अपने हाथों उनका पुष्पहार से स्वागत भी किया ।

४. तृप्ति का रहस्य

प्रभु ईसा अपने शिष्यों के साथ धर्म-प्रचार के लिए भ्रमण कर रहे थे। रास्ते में रेगिस्तान पड़ा। कोई भी घर न दिखायी देने पर भोजन की समस्या उत्पन्न हुई। ईसा बोले, "जो कुछ तुम लोगों के पास है, उसे इकट्ठा कर लो और सब मिलकर खा लो ।" शिष्यों के पास कुल मिलाकर पाँच रोटियाँ थीं और सब्जी के मात्र दो टुकड़े निकले । शिष्यों ने उसे भरपेट खाया और जो

भूखे भिखारी उधर से निकले, उन्हें भी उसमें से कुछ हिस्सा दिया। वे सारे उससे तृप्त हो गये।

तब सोलोमन नामक एक शिष्य ने पूछा, "गुरुवर! इतनी कम सामग्री में लोगों की तृप्ति का रहस्य क्या है?" ईसा ने कहा, "शिष्यो! धर्मात्मा वही है, जो स्वयं की नहीं, सबकी बात सोचता है। अपनी बचत सबके काम आये, इसी विचार से तुम्हारी पाँच रोटियाँ और थोड़ी सी तरकारी अक्षय अन्नपूर्णा बन गयी। जो जोड़ते रहेंगे, वे हमेशा भूखे रहेंगे। जिन्होंने देना ही सीखा है, उनके लिए तृप्ति के साधन आप ही आप जुट जाते हैं।"

५. बहुजन हिताय

वैष्णव-सम्प्रदाय के आदि आचार्य सन्त रामानुज को गुरुमंत्र देते हुए उनके गुरु ने सावधान किया--"गोप्यं, गोप्यं परं गोप्यं, गोपनीयं प्रयत्नतः"--इस मंत्र को प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना। सन्त रामानुज मंत्र-जप के साथ ही विचार करने लगे--"यह अमोघ प्रभुनाम मृत्युलोक की संजीवनी है। यह जन-जन की मुक्ति का साधन बन सकता है, तो गुप्त क्यों रहे?" और उन्होंने गुरु के आदेश की अवज्ञा कर वह मंत्र सभी को बता दिया। गुरु ने जो देखा तो वे बड़े क्रुद्ध हुए; बोले, "रामानुज! तूने मंत्र सभी को बता दिया? तूने गोपनीय मंत्र प्रकट कर पाप अर्जित किया है। तू निश्चित ही नरकगामी होगा।"

रामानुज ने गुरु के चरण पकड़ लिये। बोले, "गुरुदेव ! जिन्हें मैंने मंत्र बताया है, क्या वे भी नरकगामी होंगे ?"

"नहीं, वे तो मृत्युलोक के आवागमन से मुक्त हो जाएँगे। उन्हें पुण्यलाभ होगा।"

सन्त रामानुज के मुखमण्डल पर सन्तोष की आभा दीप्त हो गयी। सोचा, यदि इतने लोग मंत्र के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करेंगे, तो मैं शत शत बार नरक जाने को तैयार हूँ !

६. सत्य और असत्य का प्रभाव

इमाम अहमद हंबल। वैराग्य, विद्वत्ता और ज्ञान की प्रतिमूर्ति ! वे कुरान को मनुष्यकृत मानते और धर्मान्धों एवं काजियों की आलोचना करते थे। इससे धर्मान्धों एवं काजियों की प्रतिहिंसा ने उग्र रूप धारण किया। खलीफा के कान भरे गये। 'कुरानशरीफ' का अपमान करने के अपराध में हजरत इमाम हंबल को अदालत में तलब किया गया।

वृद्ध सन्त को बन्दी करके खलीफा के महल के समक्ष ला खड़ा किया गया। अन्यायी शासन के क्रूर अत्याचार की विभीषिका से उनका मन असमंजस में पड़ा था। तभी महल के द्वार पर पहरा दे रहा एक सिपाही उनके पास आया और फुसफुसाकर बोला, "हजरत ! जुल्म से मत डरियेगा। सच्ची बहादुरी दिखाइयेगा। चोरी के जुर्म में मुझ पर एक बार हजार कोड़े पड़े थे। पर

मैंने जुर्म कबूल नहीं किया और मुझे छोड़ दिया गया। मैंने झूठ के लिए कलेजे की ऐसी कड़ाई दिखायी, तो क्या आप सत्य के लिए दहशत खाएंगे?"

वृद्ध सन्त के मन पर छाया भय का अन्धकार दूर हुआ। वे विह्वल स्वर में बोले, "तू ठीक कहता है, अजीजेमन! तूने ठीक वक्त पर मुझे जगाया है।" और खलीफा के दरबार में सन्त ने निर्भीकतापूर्वक धर्मान्धों के रोष का सामना किया। उन्हें हजार बेंत लगाये जाने का हुक्म हुआ, किन्तु सत्य के लिए उन्होंने इस क्रूरता को हँसते-हँसते सह लिया। बेतों की मार से श्लथ होकर मृत्यु-मुख में जाते समय भी उन्हें उस चोर सिपाही के वचन स्मरण रहे।

•

परोपकार ही धर्म है; परपीडन पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, कमजोरी और कायरता पाप! स्वतन्त्रता पुण्य है, पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में और अपने आप में विश्वास पुण्य है; सन्देह ही पाप है। एकता का ध्यान पुण्य है; अनेकता देखना ही पाप।

—स्वामी विवेकानन्द

चौथी जुलाई और स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक रमेशचन्द्र सिन्हा
(नया टोला, पटना–४)

स्वामी विवेकानन्द के तूफानी जीवन में चौथी जुलाई एक रहस्यपूर्ण तिथि है। अजब संयोग की बात है कि यह तिथि संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वातंत्र्य तिथि है, जिसके प्रति स्वामीजी ने एक सुन्दर कविता की रचना की थी और ठीक इसी तिथि को उनका देहावसान भी हुआ था। स्वामीजी ने मृत्यु से कई दिनों पहले पंचांग देखकर निर्वाण की यह तिथि अपने मन में निश्चित कर ली थी। उनकी मृत्यु स्वेच्छा से हुई थी। इसे देखते हुए चौथी जुलाई का महत्त्व और बढ़ जाता है।

स्वामी विवेकानन्द का अमेरिका से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसमें भी एक नहीं अनेकों रहस्य हैं।

स्वामीजी का जन्म हिन्दू धर्म की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने के हेतु हुआ था। सैकड़ों वर्षों की गुलामी ने भारत को हर तरह से तबाह और बर्बाद कर दिया था। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आपत्तियों के कारण धार्मिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी क्षीण हो चली थीं।

ऐसे संकट-काल में "सम्भवामि युगे युगे" की प्रतिज्ञा के अनुसार भारत में महापुरुषों का प्रादुर्भाव होने लगा। भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस का ऐसे समय में अवतरित

होना ईश्वर की इच्छा के अनुरूप जान पड़ता है। परमहंस देव ने अपने अद्‌भुत जीवन से एक महान् ज्योतिपुंज को प्रकट किया, जिसके आलोक में पराधीन भारत एक बार फिर अपनी महिमामंडित प्राचीन गरिमा को देख सके। और, इस अनुपम आलोक को सम्पूर्ण विश्व में विकीर्ण करने का भार स्वामी विवेकानन्द के ऊपर आया। स्वामीजी की जीवनी पढ़ने के बाद साफ झलकने लगता है कि उनका जन्म एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही हुआ था। एक ही साथ उन्हें दो समस्याओं के हल निकालने थे। पहली समस्या थी भारत की प्राचीन आध्यात्मिक गरिमा को आधुनिक सन्दर्भ में पुनः प्रतिष्ठित करना और भारत की पराधीनता को दूर करना, जिसके चलते सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अवनति हुई। स्वामीजी सदा देश-हित की चिन्ता में लगे रहते थे। भारत के सम्बन्ध में बोलते समय हमेशा ही वे भावुक और अधीर हो जाते थे। जब कभी भारत की पराधीनता और दुर्दशा की चर्चा चलती, तो उनका पौरुष जाग उठता और उनकी वाणी में अंगार दहकने लगता। सच पूछें तो स्वाधीनता की जो लहर भारत में उठी, उसकी प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द से ही मिली। बंगाल के क्रान्तिकारी स्वामीजी की वाणी सुनकर पागल हो उठे थे। निश्चय ही उनका आविर्भाव पराधीन भारत को स्वाधीनता का सन्देश सुनाने के लिये हुआ था।

दूसरी समस्या उनके सामने थी—भौतिकवादी देशों को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना। इसके लिये उन्होंने अमेरिका को अपना केन्द्र बनाया। अमेरिका भौतिक उपलब्धियों में सबसे तगड़ा देश है। फिर, सभ्यताओं में सबसे नवीन सभ्यता उसी की है। आध्यात्मिक उपलब्धियों से शून्य भौतिकता के दास अमेरिका को वे मुक्ति का सन्देश सुनाना चाहते थे। दोनों देशों की समस्याएँ उनके सामने थीं। एक देश सबसे प्राचीन था तो दूसरा सबसे नवीन। दूसरी बात यह भी है कि 'मय सभ्यता' को अमेरिका में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भारतीयों को ही रहा है। इस दृष्टि से भी दोनों देशों का आधुनिक काल में स्वामीजी द्वारा बन्धुभाव से मिलन करा देना समीचीन जान पड़ता है।

इन्हीं 'मुक्तियों' के सन्दर्भ में स्वामीजी की 'चौथी जुलाई के प्रति' कविता को पढ़ना होगा।

चौथी जुलाई, १८९८ ई० को स्वामी विवेकानन्द ने काश्मीर में इस कविता की रचना की थी। तब उनके साथ कुछ अमेरिकन शिष्याएँ भी थीं। सम्पूर्ण कविता स्वतंत्रता और स्वाधीनता का जयघोष करती है। स्वतंत्रता के पहले संसार तिमिराच्छन्न था। स्वतंत्रता का स्पर्श होते ही अन्धकार दूर हो गया है। सुप्रभात का आगमन हुआ है। पंछी आनन्द-गीत गा रहे हैं। फूल खिल रहे हैं। स्वतंत्रता के स्वागतार्थ सरोवरों के कमल आँखें खोल रहे हैं। प्रकाश स्वतंत्रता का प्रतीक है और

आज सूरज स्वतंत्रता की किरणें बिखेर रहा है।

"The birds in chorus sing.
The flowers raise their star-like crowns—
Dew-set, and wave thee welcome fair.
The lakes are opening wide in love
Their hundred thousand lotus-eyes
To welcome thee, with all their depth."

इस कविता में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का जो दृश्यांकन है, वह स्वामीजी के भावुक कवि-हृदय को प्रकट करता है। काश्मीर में लिखी जाने के कारण वहाँ की प्राकृतिक सुषमाओं का चित्रण होना स्वाभाविक है।

स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये कठिन तप की जरूरत पड़ी और लोगों ने हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि दे दी। इसकी खोज में हजारों व्यक्ति घर-बार छोड़कर जंगल और पहाड़ों की खाक छानते फिरे। प्रत्येक कदम जोखिमों से भरा था। मृत्यु के साथ जूझते हुए वे चलते रहे। अन्त में एक दिन उसकी प्राप्ति हुई और तप का फल मिला। तप और प्रेम की जीत हुई, और आज मानव स्वतंत्रता की किरणों से ओतप्रोत है।

"Some gave up home and love of friends,
And went in quest of thee, self-banished,
Through dreary oceans, through primeval forests,
Each step a struggle for their life or death."

अन्तिम पंक्तियों में स्वामीजी स्वतंत्रता को सम्पूर्ण

विश्व में व्याप्त हो जाने का आह्वान करते हैं। इसकी राह कोई नहीं रोक सकता। इसका प्रकाश सर्वत्र फैलेगा। पराधीनता की बेड़ियाँ टूटकर रहेंगी और प्रत्येक राष्ट्र स्वाधीन होगा। सभी स्त्री-पुरुष गर्व से सिर ऊँचा करके चलेंगे और सानन्द नये स्वाधीन जीवन को जीना शुरू करेंगे।

"Move on, O Lord, in thy resistless path!
Till thy high noon o'erspreads the world,
Till every land reflects thy light,
Till men and women, with uplifted head,
Behold their shackles broken, and
Know, in springing joy, their life renewed!"

कविता रात्रि के अन्धकार से शुरू होती है। यह पराधीनता और दासता का अन्धकार है। स्वतंत्रता के चमत्कारिक स्पर्श से प्रकाश भर जाता है और संसार आनन्द-विह्वल हो उठता है। इसकी प्राप्ति के लिये कठिन तपस्या की जरूरत पड़ी। अन्त में स्वतंत्रता से दीप्त स्त्री-पुरुषों के उन्नत भाल हैं और है उनके आगे विहँसता हुआ भविष्य। इस तरह भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों अवस्थाओं के वर्णन क्रमशः आ जाते हैं। अन्धकार और प्रकाश के प्रतीकों के सहारे स्वामीजी एक सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर देते हैं। प्रत्येक बिम्ब तर्कनिष्ठ आधार पर उभरता है। चौथी जुलाई का कहीं भी जिक्र नहीं है, वह तो सिर्फ प्रेरणा का कार्य करती है।

कविता पढ़ते समय ऐसा लगता है कि एक के बाद दूसरा परदा उठता जा रहा है। इस छोटी-सी कविता में भी महाकाव्य का आनन्द मिलता है।

सम्पूर्ण कविता में स्वतंत्रता के लिये एक तड़प है। स्वामीजी का हृदय पराधीन भारत को देखकर कचोटता था। अन्तिम सात पक्तियों में स्वतंत्रता का पराधीन देशों में आह्वान किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी 'गीताञ्जलि' के कई गीतों में ठीक इसी तरह के भाव व्यक्त किये हैं। स्वामी विवेकानन्द ने स्वतंत्रता का जो शंख-नाद इस कविता में किया है, उसकी प्रतिध्वनि परवर्ती सभी राष्ट्रवादी कवियों--रवीन्द्र, नजरूल इसलाम, निराला, आदि--में सुनाई पड़ती है।

इस कविता के माध्यम से स्वामीजी ने पराधीन भारत को स्वतंत्रता का मंत्र दिया है। भारत को सब तरह से पिछड़ा देखकर उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। उन्होंने यह भी देखा कि स्वाधीनता के बिना भारत का कल्याण सम्भव नहीं है। स्वतंत्रता में ही नवीन उत्फुल्ल जीवन की आशा है। जीवन का प्रथम आदर्श स्वतंत्रता है। "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" और, स्वतंत्रता की प्राप्ति सर्वस्वत्याग के बिना सम्भव नहीं। मृत्यु से जूझकर ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। निश्चय ही इस कविता में भारतीय स्वतंत्रता का जयघोष है और इसकी प्राप्ति के हेतु हर सम्भव कुर्बानी का आह्वान किया गया है। चौथी जुलाई न केवल अमेरिका की स्वतंत्रता का प्रतीक

है, बल्कि भारतीय स्वतंत्रता का भी। यह स्वतंत्रता की प्रशस्ति है, साथ ही एक महान् देश के प्रति श्रद्धांजलि भी। यह मुक्ति की पुकार है। ठीक इसी तिथि को स्वामीजी का ब्रह्मलीन होना मुक्ति का ही प्रतीक है।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म भारतीय स्वतंत्रता के पुरोधा के रूप में हुआ था, कौन जाने ?

•

जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा यह है कि ऐसा चक्र-प्रवर्तन कर दूं, जो कि उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वार द्वार पर पहुँचा दे। फिर स्त्री-पुरुषों को अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करने दो। हमारे पूर्वजों ने तथा अन्य देशों ने जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है, यह सर्वसाधारण को जानने दो। विशेषकर उन्हें देखने दो कि और लोग क्या कर रहे हैं। फिर उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे किसी विशेष आकार को धारण कर लेंगे।...परिश्रम करो, अटल रहो। "धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति"—इसे अपना आदर्श-वाक्य बना लो।

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द-आविर्भाव की अपूर्वता

राजमाता विजयाराजे सिन्धिया

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में १९ जनवरी, १९७१ को विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते समय ग्वालियर की राजमाता श्रीमन्त विजयाराजे सिन्धिया द्वारा प्रदत्त भाषण।)

श्रीरामकृष्ण परमहंस के महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रस्थापित इस मिशन के पवित्र स्थल पर आप सबके बीच उपस्थित होकर सन्तप्रवर, राष्ट्रज्योति स्वामी विवेकानन्द को अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने का यह सुअवसर पाकर मुझे अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। मेरा कार्य मुख्यतः राजनीतिक ही है। आध्यात्मिकता-जैसे पवित्र विषय पर मेरी आस्था होते हुए भी इस विषय पर मेरा अधिकार नहीं है, फिर भी पूज्य स्वामी आत्मानन्दजी ने मुझ अकिंचन को आज यहां आमंत्रित कर तथा मुख्य अतिथि का उच्च आसन प्रदान कर मुझे सम्मानित किया, यह उनकी मेरे ऊपर स्नेहपूर्ण महती कृपा तथा अनुग्रह का द्योतक है जिसके लिए मैं स्वामीजी की हृदय से आभारी हूँ। सर्वप्रथम मैं यहाँ पर अपनी तथा समस्त उपस्थिति की ओर से उन महान् आत्मा को आज के इस सुअवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ।

मध्यप्रदेश-जैसे पिछड़े प्रदेश के इस हिस्से में जहाँ

अभी भी विकास की किरण अनेकों स्थानों तक नहीं पहुँच सकी है, बड़े कठिन परिश्रम तथा अध्यवसाय के फल-स्वरूप यह केन्द्र स्थापित हुआ है । यहाँ पर स्थापित पुस्तकालय, उसमें संकलित दुर्लभ पुस्तकें, छात्रावास तथा नये उपकरणों और सुविधाओं से युक्त चिकित्सालय इत्यादि द्वारा इस क्षेत्र में यह मिशन सेवा का महान् कार्य कर रहा है । यह सब स्वामीजी महाराज तथा उनके समस्त कर्मठ सहयोगी कार्यकर्ताओं की निष्ठा, सेवा की भावना तथा लगन का सुफल है । पूज्य स्वामी आत्मानन्दजी के मार्गदर्शन में यहाँ स्वामी विवेकानन्दजी की प्रेरणा स्पन्दित हो रही है । यह मिशन उसी महान् ज्योति की एक किरण है । आज देश में ऐसे मिशन-केन्द्रों के व्यापक जाल की भारी आवश्यकता है । रायपुरवासी निस्सन्देह बड़े भाग्यशाली हैं ।

विगत कुछ शताब्दियों में स्वामी विवेकानन्द प्रथम हिन्दूधर्म-प्रचारक संन्यासी थे, जो देश-देशान्तरों में गये और जिन्होंने भारत के अध्यात्म एवं धर्म का सन्देश विश्व को पुन: दिया । एक महान् देशभक्त और समाज-सुधारक के अतिरिक्त, राष्ट्रीय पुनरुत्थान की शक्तियों को संगठित एवं परिचालित करनेवाले वे प्रथम व्यक्ति थे और उन्होंने अंग्रेजी शासन के आघात से विशृंखलित और पराभूत राष्ट्र के पुन:निर्माण का पथ प्रशस्त किया । इसी प्रकार देश को उसके चेतना-केन्द्र धर्म से परिचित कराते हुए उन्होंने आध्यात्मिक भारत की आधार-शिला

रखी और इस बात का दृढ़ शब्दों में प्रतिपादन किया कि धर्म और आध्यात्मिक जीवन के सहारे ही इस भारत राष्ट्र को उसके लक्ष्य के अनुरूप एवं प्रभावपूर्ण ढंग से संगठित किया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्दजी, जिन्हें मैंने हृदय से सदा गुरु माना है, की उन पंक्तियों का जिन्हें मैंने अपने जीवन के 'मेनिफेस्टो' या 'मोटो' के समान हृदयग्राह्य कर लिया है, मैं यहाँ पर उल्लेख करना उचित समझती हूँ।

स्वामीजी ने कहा था, "स्मरण रखो कि हमारा राष्ट्र झोपड़ियों में बसा है, किन्तु उसके लिए किसी ने कभी कुछ नहीं किया। हमारे वर्तमान समाज-सुधारक केवल विधवा-विवाह के पीछे पड़े हुए हैं। निस्सन्देह मैं प्रत्येक सुधार का पक्षपाती हूँ। किन्तु किसी भी राष्ट्र का भाग्य उसके जनसमूह की स्थिति पर निर्भर करता है, न कि छोटे सुधार पर। क्या तुम उस जनसमह को ऊपर उठा सकते हो? क्या लोगों को तुम उनकी जन्मजात आध्यात्मिक प्रकृति से वंचित किये बिना, उन्हें खोया व्यक्तित्व वापस दिला सकते हो? क्या तुम स्वतंत्रता, समता, श्रम और कर्मशक्ति की भावना में तो पाश्चात्य से कहीं आगे, किन्तु साथ ही धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में सच्चे हिन्दू बनकर दिखा सकते हो? स्वयं विश्वास रखो। अचल निष्ठा ही महान् कार्यों की जननी है। सदैव आगे बढ़ो और मृत्युपर्यन्त गरीबों और पददलितों के लिए सहानुभूति रखो।"

उस समय पश्चिमी तड़क-भड़क तथा विदेशी प्रभाव पर प्रहार करते हुए स्वामीजी ने कहा था, "स्मरण रखो, यदि तुम पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के चक्कर में पड़कर आध्यात्मिक आधार त्याग दोगे तो उसका परिणाम होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारा अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जायेगा, राष्ट्रीय जीवन की नींव खिसक जायेगी । इस सबका परिणाम होगा--सर्वतोमुखी उच्छेदन । इसलिए अपनी अमूल्य विरासत आध्यात्मिकता की पकड़ को कदापि ढीला नहीं होने दो । राष्ट्रीय जीवन की रक्षा के लिए तुम्हें आध्यात्मिक आधार पर टिके रहना होगा । दूसरा हाथ बढाकर अन्य जातियों से जो कुछ लेना चाहो लो, किन्तु जो भी उनसे ग्रहण करो उसे अपने जीवन-आदर्श के अधीन कर दो । तब एक चमत्कारी गौरवशाली भावी भारत का उदय होगा । मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह होकर रहेगा । पहले से कहीं अधिक महान् भारत का उदय अवश्यम्भावी है ।"

स्वामी विवेकानन्द भारत-माँ की कोख से जन्म लेने-वाली ऐसी विभूति थे, जिनके अन्त:करण से यह देश कभी भी ओझल नहीं हुआ । इस देश के निवासियों की दशा के बारे में उनके हृदय में सदैव बेचैनी बनी रही । देशवासियों की दुर्दशा को समाप्त करने की दिशा में वे सदैव विचारते रहे । जब वे इस देश में रहे तो उन्होंने इस देश के लिये काम किया, जब वे इस देश से बाहर

गये तो भी उन्होंने यहाँ के निवासियों के बारे में ही सोचा। उन्हें यह देश, इसकी मिट्टी, इसका दर्शन, इसकी संस्कृति और इसके निवासी इतने प्यारे थे कि उन्होंने अपनी पूरी चिन्तना का आधार इन्हीं को बनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्दजी एक बहुत बड़े देशभक्त और समाज-सुधारक थे। उन्होंने इस देश के निवासियों को जागृत करने का सदा प्रयास किया।

स्वामीजी ने सम्पूर्ण देश का भ्रमण कर यहाँ की आत्मा को पहचाना, भारतीय जनता की नब्ज पर उनका हाथ था, इस देश की समस्याओं को उन्होंने उसकी तह पर जाकर देखने का प्रयास किया था और इसके बाद उन्होंने धर्म का उपदेश दिया था। इसी कारण उनका धर्म केवल कर्मकाण्ड नहीं, कर्मयोग का सूत्र था, इस देश की कोटि कोटि जनता के दुःख-दर्द को दूर करने का व्रत था। गरीबों के रहनुमा के रूप में स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि "मैं उस ईश्वर या उसकी उपासना में विश्वास नहीं करता जो किसी विधवा के आंसू न पोंछ सके, या भूखे के मुंह में रोटी का टुकड़ा न डाल सके।" उन्होंने स्पष्ट कहा कि "भगवान् पोथी-पुराणों में नहीं, धार्मिक पुस्तकों में नहीं, गरीबों में है। क्या सभी कमजोर, सभी पीड़ित भगवान् नहीं? तुम उनकी पूजा पहले क्यों नहीं करते?" गरीबों के सखा, मानवता के उपासक इस संत की वाणी

को यदि इस देश ने ध्यान से सुना होता तो आज हमें पतन के वर्तमान दिन नहीं देखने पड़ते। स्वामीजी के ये शब्द आज भी हमारे हृदय को स्पन्दित करते हैं; उन्होंने कहा था, "खड़े हो जाओ—सुदृढ़ बनो, शक्तिवान् बनो, सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठाओ, और इस बात को समझो कि अपने भविष्य के निर्माता तुम स्वयं हो। अपने ओठों को बन्द रखकर अन्तःकरण को खुला रखते हुए, भारतवर्ष के पुनरुत्थान के कार्यों में पूरे परिश्रम से जुट जाओ, तुम्हारे कार्यों पर ही यह भारत और इसका भविष्य निर्भर है।"

स्वामीजी ने देश के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और कहा कि केवल निःस्वार्थ बुद्धि से किया गया कर्म ही इस देश के लिए आवश्यक है। कठोर परिश्रम करते हुए अपने आपको बलिदान कर देने की आवश्यकता उन्होंने बतायी। उन्होंने इसके लिये आदर्श रखा गुरु गोविन्दसिंह का। उनकी भावना थी कि अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए, अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का इस देश के लिए बलिदान करते हुए, हम गुरु गोविन्दसिंह के सच्चे पुत्र सिद्ध हों। स्वामीजी का यह सन्देश राष्ट्र-भक्ति की इतनी अनुपम मिसाल है कि इसके आगे कुछ कहने को शेष ही नहीं रहता। हम समाज के लिए कर्म करें, अपने देश, धर्म और संस्कृति के लिए किसी भी प्रकार की कुर्बानी से पीछे न हटें, किन्तु उस कुर्बानी की कीमत कभी भी नहीं माँगें। स्वामीजी का कहना था कि भारत

के इतिहास में गुरु गोविन्दसिंह के समान कुर्बानी देखने को नहीं मिलेगी, जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया, रणक्षेत्र में अपने लाड़ले बेटों का बलिदान होते हुए देखा, और जिन लोगों के लिए उन्होंने बलिदान किया उन लोगों ने जब उनकी उपेक्षा की एवं कृतघ्नता दिखाकर उनका साथ छोड़ दिया तो भी उस घायल सिंह के मुख से शिकायत का एक भी शब्द नहीं निकला। स्वामीजी ने कहा था, "यदि तुम इस देश का कल्याण करना चाहते हो तो तुम सबको गोविन्दसिंह बनना होगा। भले ही तुम्हें अपने देश-वासियों में सहस्रों दोष दिखायी दें, वे तुम्हें हानि पहुँचाने का प्रयास करें, तब भी वे तुम्हारे प्रथम देवता हैं, जिनका तुम्हें पूजन करना होगा। कोई तुम्हें भले गाली दे, पर तुम्हें स्नेह की भाषा बोलनी होगी, और यदि कोई तुम्हें धक्का दे तो तुम्हें उस शक्तिशाली सिंह गोविन्दसिंह की तरह मृत्यु की गोद में चुपचाप सो जाना होगा। ऐसा ही व्यक्ति हिन्दू कहलाने का वास्त-विक अधिकारी है।" आज जबकि सर्वत्र हिन्दुत्व पर प्रहार होता दिखाई दे रहा है, अपने बलिदानों की हुण्डी चुकाने का प्रयास किया जा रहा है, अपने स्वार्थों के पीछे इस देश का अनिष्ट करने से भी हम नहीं चूक रहे हैं, ऐसी स्थिति में उस महान् राष्ट्रीय आत्मा के ये शब्द याद आते हैं। काश! हमने स्वामीजी के अन्तःकरण की वेदना को समझा होता!

आज भारत में पश्चिम का अन्धानुकरण बहुत जोरों पर है। हम अपने धर्म को भूल कर जिस प्रकार का आचरण कर रहे हैं उसके परिणामस्वरूप राष्ट्र-जीवन में निरन्तर ह्रास आ रहा है। स्वतंत्रता के पश्चात् धर्म-निरपेक्षता के आडम्बर में हमने धर्म के मूल पर प्रहार किया है। इसके परिणामस्वरूप हमारे दैनिक जीवन से नैतिकता, सदाचरण आदि शनैः-शनैः पृथक् होते जा रहे हैं। भ्रष्टाचार, ढोंग एवं व्यक्तिगत स्वार्थ प्रबल होता जा रहा है। भौतिकवादी जीवन की चकाचौंध में हम अस्तित्व भूल रहे हैं। यह कटु सत्य है कि यह आत्मघात की स्थिति है। स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी थी कि "स्मरण रखो, यदि तुम पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के चक्कर में पड़कर आध्यात्मिकता का आधार त्याग दोगे तो इसका परिणाम यह होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारा जातीय अस्तित्व मिट जायगा, तुम्हारे राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जायगा, राष्ट्रीय भवन की नींव ही खिसक जायगी और इसका परिणाम होगा—सर्वतोमुखी विनाश।"

स्वामीजी का कहना था कि हममें आत्मनिर्भरता का होना आवश्यक है। पश्चिमी भौतिकता ने हमें मानसिक रूप से गुलाम बना दिया है। बौद्धिक जड़ता के परिणामस्वरूप हमारी स्थिति बड़ी हास्यास्पद हो गयी है। स्वामीजी के अनुसार इसका कारण हमारी दुर्बलता है, हमारा आलस्य और अकर्मण्यता है। इसलिए उन्होंने

युवकों के बलिष्ठ होने पर आग्रह किया और उनसे कहा कि सुदृढ़ मांसपेशियों तथा सशक्त भुजाओं से ही तुम गीता को अच्छी तरह समझ सकते हो, श्रीकृष्ण की महान् शक्ति और प्रतिभा की थाह पा सकते हो। वेदों में भी कहा गया है कि तरुण, बलवान् एवं तीव्र बुद्धि वाले ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं।

स्वामीजी के मन और मस्तिष्क में सदैव भारत और भारत का भविष्य ही चक्कर काटता रहता था। वे जानते थे कि यह काम एक-दो दिन का नहीं; मार्ग भी सुगम नहीं, काँटों से भरा पथ है, विपत्तियाँ हैं, विरोध है। इस संघर्ष और बलिदान का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था, "इस संघर्ष में सैकड़ों साथी गिरेंगे, सैकड़ों उनका स्थान लेंगे; हो सकता है, मैं यहाँ असफल होकर गिर जाऊँ, मर जाऊँ, पर कोई दूसरा इस कार्य को उठायेगा। तुम जानते हो रोग क्या है एवं इसका उपाय क्या है। केवल विश्वास रखो, उन पीड़ित और पददलित लोगों तक बढ़ो और धनवान व्यक्तियों की ओर मत देखो। हृदयहीन बुद्धिजीवी लेखकों की तथा उनके द्वारा ठण्डे खून से लिखे गये समाचार-पत्रों के लेखों की चिन्ता मत करो। विश्वास, सहानुभूति; उग्र विश्वास और उग्र सहानुभूति रखो। जीवन कुछ नहीं है, मृत्यु कुछ नहीं है, भूख कुछ नहीं है, भगवान् में विश्वास रखते हुए आगे बढ़ो, भगवान् ही हमारा सेनापति है। कौन गिरा है यह

देखने के लिए पीछे मत देखो, आगे बढ़ो, इसी प्रकार गिरते-पड़ते हम लक्ष्य पर पहुँचेंगे।" यही आत्मविश्वास लेकर स्वामीजी अमेरिका पहुँचे थे। शिकागो के सर्व-धर्मसम्मेलन में उनकी जीत, उनके इसी आत्मविश्वास की जीत थी। स्वामीजी का व्यक्तित्व इतना प्रभाव-शाली और दिव्य था कि सम्पूर्ण यूरोप में उन्होंने तहलका मचा दिया। सँपेरों और केवल जादू-टोना करने वालों के देश से गये हुए इस जादूगर ने सम्पूर्ण अमेरिका को मोह लिया!

स्वामी विवेकानन्द का सारा जीवन इस राष्ट्रदेवता की आराधना और चिन्तन से ओतप्रोत है। वे इस समग्र राष्ट्र को जागृत करना चाहते थे और उसी में जीवन-पर्यन्त लगे रहे। उनका चिन्तन आंशिक या एकपक्षीय नहीं था। इस राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से वे मजबूत देखना चाहते थे। तभी तो उन्होंने जहाँ विचारों की उच्चता, धर्म और आध्यात्मिकता पर बल दिया वहाँ देश में गरीबी की समाप्ति को भी आवश्यक बताया। देश के युवकों को उन्होंने ज्ञान के साथ ही शारीरिक बल अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिससे ज्ञान के प्रचार के साथ ही समाज-सुधार तथा समाज को स्वस्थ और बलवान बनाने का कार्य भी चल सके। इसी दृष्टि से योग्य मार्गदर्शन करनेवाले ज्ञानी, देशभक्त, धार्मिक एवं समाज-

सुधारक निष्ठावान् संन्यासियों की उन्होंने परम्परा स्थापित की। स्वामी आत्मानन्दजी जैसे संन्यासी भी इसी महान् परम्परा की एक कड़ी हैं। संकटग्रस्त देश आज मिशन के संन्यासियों के प्रति बड़ी आशाभरी दृष्टि से निहार रहा है।

देश की आज की परिस्थिति स्वामीजी के विचारों एवं चिन्तन की आवश्यकता को और भी अधिक सिद्ध करती है। आज देश चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ है। देश की सीमाएँ आक्रान्त हैं। भारत के नन्दन-वन काश्मीर पर तथा मुकुट हिमालय पर शत्रु की निगाहें लगी हैं। विदेशी शक्तियाँ देश में आन्तरिक संकट पैदा करने में सचेष्ट है। विदेशों के प्रति वफादारी रखने वाले तत्त्व इस देश में अराजकता, हिंसा और अव्यवस्था फैलाने में सक्रिय हैं। देश की स्वतंत्रता तथा प्रजातंत्र पर सकट उपस्थित है। बंगाल की स्थिति से आप परिचित हैं। स्वामीजी के प्रिय बेलुड़ मठ जैसे पवित्र स्थल पर स्थित रामकृष्ण आश्रम भी आज दुष्टों के आक्रमण से न बच पाया है। महापुरुषों की प्रतिमाएँ तोड़ी जा रही हैं। पुस्तकालय नष्ट किये जा रहे हैं। दूसरी ओर, देशवासी व्यक्तिगत स्वार्थ, पदलिप्सा, व्यक्तिगत लाभ अथवा अहंकार से ग्रस्त हैं। देशाभिमान से व्यक्तिगत अभिमान अधिक प्रभावी हो रहा है। धार्मिक जीवन भी क्रमशः ह्रास की ओर है।

यह समस्त आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक,

सांस्कृतिक नेताओं के लिए चुनौती है। आज का संघर्ष इस बात का निर्णय करेगा कि देश में सद्विचार, उत्तम जीवन, उत्तम ज्ञान बने रहेंगे अथवा नष्ट होकर पाशविक विचारों का साम्राज्य स्थापित हो जायगा, जिसमें अव्यवस्था, घृणा, अराजकता, हिंसा और हत्या साधारण बात होकर मनुष्य को दूषित प्रवृत्तियों का गुलाम बना देगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि रामकृष्ण-विवेकानन्द-मिशन में लगे हुए जागृत कर्मठ संन्यासी ऐसे कठिन काल में देश का और समाज का सही नेतृत्व करेंगे तथा अपने ज्ञान के प्रकाश से और समाज-सुधार की प्रबल भावना से देश को पुनः सशक्त जागृत राष्ट्र के रूप में विकसित करने में सफल होंगे। निःसन्देह स्वामी विवेकानन्द जैसी विभूतियों का तपस्वी जीवन इस कार्य में मार्गदर्शक और प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा।

●

हमारे भारतवर्ष का यह एक महान् दोष है कि हम कोई स्थायी संस्था नहीं बना सकते हैं और उसका कारण यह है कि दूसरों के साथ हम कभी अपने उत्तरदायित्व का बटवारा नहीं करना चाहते और हमारे बाद क्या होगा—यह भी हम नहीं सोचते।

—स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

मेम्फिस में स्वामीजी की प्रसिद्धि उनके व्याख्यानों के पूर्व ही फैल चुकी थी। वहाँ के समाचार-पत्रों ने उन्हें सर-आँखों में उठा लिया था। सारे पत्र उनकी प्रशंसा से युक्त थे। 'अपील अवलांश' ने अपने १४ जनवरी के अंक में छापा--"मेम्फिस में आज प्रातःकाल सुप्रसिद्ध ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवे कानन्द पधारे। वे नाइन्टीन्थ सेन्चुरी क्लब के मेहमान हैं। उनकी संस्कृति, उनकी वाग्मिता तथा उनके चित्ताकर्षक व्यक्तित्व ने इस देश को हिन्दू सभ्यता के बारे में एक नया ही आलोक प्रदान किया है। पीत वस्त्रों में सजा उनका आकर्षक व्यक्तित्व, बुद्धिमत्ता से युक्त उनका चपल चंचल मुख तथा उनकी गम्भीर संगीतमयी वाणी लोगों को एकबारगी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इस-लिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे अनेक साहित्यिक संस्थाओं में आमंत्रित किये गये हों। उन्होंने अनेक अमरीकी गिर्जाघरों में अपने व्याख्यान और उपदेश दिये हैं। वे बिना किसी प्रकार के नोट्स के बोलते हैं तथा अपने तथ्यों और निष्कर्षों को ऐसे अनुपम कलात्मक ढंग से, ऐसी सचाई के साथ प्रस्तुत करते हैं कि उन पर सहज ही विश्वास हो जाता है। कभी कभी

तो वे अत्युत्तम अनुप्रेरक वाग्मिता के शिखर पर उठ जाते हैं ।''

१५ जनवरी को उसी पत्र में प्रकाशित हुआ—
"'सभामंच का एक असाधारण मानव,' 'अपनी जाति का एक आदर्श प्रतिनिधि,' 'दैवी शक्तिसम्पन्न वक्ता,' 'धर्म महासभा में हलचल मचा देनेवाले' ये सब तथा और भी अनेक विशेषण इस हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के बारे में सत्य हैं। ये नगर में नाइन्टीन्थ सेन्चुरी क्लब के आमंत्रण पर पधारे हैं। क्लब के अनेक सदस्यों ने अभी सम्पन्न हुई विश्वधर्मसभा के अवसर पर उन्हें सुना था और वे उनकी वक्तृता, उनकी आन्तरिकता और उनकी संस्कृति से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें मेम्फिस आमंत्रित करने का निश्चय कर लिया तथा इसके लिए धर्मसभा की समाप्ति के बाद से अब तक वे उनसे पत्र-व्यवहार करते रहे।...."

इन समाचार-पत्रों से यह भी पता चलता है कि अभी तक स्वामीजी ब्राह्मण ही समझे जाते रहे। दूसरी बात जो पत्रों में देखने में आयी वह थी उनके नाम की विचित्र शल्य-क्रिया। कई पत्रों में उनके नाम को दो टुकड़ों में लिखा जाता, जैसे, विव कानन्द अथवा विवे कानन्द (Vive Kananda)। इसका कारण शायद यह हो कि इससे उनके नाम को याद रखने में तथा उसका उच्चारण करने में सहूलियत होती रही हो। बाद में अधिक प्रचार होने पर 'विवे' पूर्णतया गायब कर

दिया गया और सिर्फ 'कानन्द' लिखा जाने लगा। किसी किसी ने उन्हें 'विव कानोन्द', 'विव क्योनन्द' तथा 'विवा कानन्द' लिखने का भी श्रेय प्राप्त किया। पर कइयों ने इन सबको अपनी नयी खोज से मात कर दिया और वह था 'विवि रानाम्ड' तथा 'विवी रानाम्ड' आदि। जो हो, अपने नाम की शल्यक्रिया स्वामीजी के अपने लिए बड़े मनोरंजन की वस्तु रही होगी।

१६ जनवरी के 'अपील अवलांश' ने उनके बारे में विस्तृत विवरण देते हुए लिखा—"हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द आज रात को सभाभवन में भाषण देंगे। वे इस देश के धार्मिक मंच अथवा भाषण-मंच पर उपस्थित होनेवाले लोगों में सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं। उनकी अप्रतिम वक्तृता, रहस्यमय बातों में उनकी गम्भीर अन्तर्दृष्टि, तर्ककुशलता एवं महान् निष्ठा ने विश्वमेला के धर्म-सम्मेलन में भाग लेनेवाले संसार के सभी विचारवान् व्यक्तियों का ध्यान आत्यन्तिक रूप से आकृष्ट किया तथा उन हजारों लोगों की प्रशंसा अर्जित की जिन्होंने उन्हें अमेरिका के विभिन्न राज्यों में उनकी भाषण-यात्राओं के दौरान सुना है।

"वार्तालाप में वे अत्यधिक आनन्ददायक व्यक्ति हैं। उनके शब्दों का चयन अंग्रेजी भाषा के रत्न हैं तथा उनका सामान्य व्यवहार उन्हें पश्चिमी शिष्टाचार और रीति-रिवाज के अन्यतम सुसंस्कृत लोगों की श्रेणी में ला देता है। साथी के रूप में वे बड़े मोहक व्यक्ति हैं

तथा सम्भाषणकर्ता के रूप में उनकी बराबरी करनेवाला पश्चिमी देशों के शहरों की बैठकों में शायद ही कोई मिल सके। वे अंग्रेजी स्पष्ट ही नहीं, वरन् धाराप्रवाह रूप से बोलते हैं तथा स्फुलिंग के समान उनके नूतन भाव उनकी वाणी से अलंकृत भाषा के आश्चर्यजनक प्रवाह में निकलते हैं।

"स्वामी विवेकानन्द अपने पैतृक धर्म अथवा प्रारम्भिक शिक्षा के फलस्वरूप एक ब्राह्मण के रूप में बड़े हुए। किन्तु हिन्दू धर्म में दीक्षित होकर उन्होंने अपनी जाति को त्याग दिया और वे हिन्दू पुरोहित अथवा जैसा हिन्दू-आदर्श के अनुसार विदित है, संन्यासी बन गये। ईश्वर के उच्चभाव से उद्भूत प्रकृति के आश्चर्यजनक और रहस्यमय क्रिया-कलापों के वे सदैव अभ्यतम विद्यार्थी रहे हैं और पूर्वीय देश के उच्चतर महाविद्यालयों में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों रूपों में अनेक वर्ष बिताकर उन्होंने ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है जिससे उन्हें युग के सर्वश्रेष्ठ विचारक-विद्वानों में गिने जाने की विश्वविश्रुत ख्याति प्राप्त हुई है।

"विश्वमेला-सम्मेलन में उनके प्रथम आश्चर्यजनक भाषण ने उन पर धार्मिक विचारकों की महान् संस्था के नेता होने की मुहर लगा दी। अधिवेशन में बहुधा उन्हें अपने धर्म का समर्थन करते सुना गया। मनुष्य का मनुष्य के प्रति तथा सृष्टिकर्ता के प्रति कर्तव्यों का चित्र खींचते समय उनके ओठों से अंग्रेजी भाषा की

शोभा बढ़ानेवाले कुछ बहुत ही सुन्दर दार्शनिक रत्न निःसृत हुए। वे विचारों में कलाकार, विश्वास में आदर्शवादी तथा मंच पर नाटककार हैं।

"जब से वे मेम्फिस में आये हैं, मि. ह्यू. एल. ब्रिन्कले के अतिथि हैं। वहाँ उन्होंने अपने प्रति श्रद्धा रखनेवाले लोगों से दिन में तथा सन्ध्या के समय भेंट की है। वे टेनेसी क्लब के भी अनौपचारिक अतिथि हैं। शनिवार की शाम को श्रीमती एस. आर. शेफर्ड द्वारा आयोजित स्वागत में वे अतिथि थे। रविवार को कर्नल आर. बी. स्नोडेन ने एनेसडेल में अपने घर पर इस विशिष्ट अतिथि के सम्मान में एक भोज दिया जहाँ सहायक बिशप थॉमस एफ. गेलर, रेवरेण्ड डा. जार्ज पैटर्सन तथा अनेक दूसरे पादरियों से उनकी भेंट हुई।

"कल अपराह्न उन्होंने रानडाल्फ ब्रिल्डिग में नाइन्टीन्थ सेन्चुरी क्लब के कक्ष में उसके सदस्यों की बड़ी तथा फैशनेबल सभा के बीच भाषण दिया। आज रात को ऑडिटोरियम में उनका 'हिन्दुत्व' पर व्याख्यान होगा।"

'हिन्दुत्व' पर उनका व्याख्यान १६ जनवरी को हुआ। १७ जनवरी को उसकी रिपोर्ट 'मेम्फिस कमर्शियल' में प्रकाशित हुई। उसका सारांश यह था--सब मतों के प्रति सहिष्णुता का भाव ही उनके भाषण का प्रमुख विषय था। और इसका उन्होंने हिन्दू धर्म के दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि सहिष्णुता तथा

प्रेम की भावना सभी अच्छे धर्मों की केन्द्रीभूत प्रेरणा है तथा उसको प्राप्त करना प्रत्येक मत का अभीष्ट लक्ष्य है। उन्होंने हिन्दू धर्म के आचार-अनुष्ठानों की अधिक चर्चा न करते हुए उसके मौलिक तत्त्व का ही विशद विवेचन किया। हिन्दुत्व की रहस्यमय विशेषताओं का सजीव वर्णन करते हुए उन्होंने उससे विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विवेचन किया जिसे प्रायः गलत समझा जाता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि किस तरह हिन्दूधर्म ईसाई धर्म की भाँति 'आदिम पाप' (Original Sin) में विश्वास नहीं करता वरन् समस्त प्रयत्नों और अभीप्साओं का आधार मानवता की पूर्णता को मानता है। और मनुष्य के विकास का अर्थ अपनी मूल पूर्णता की ओर लौटना है। यह पूर्णत्व • पवित्रता और प्रेम की साधना से ही आ सकता है। यहाँ उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार उनके देशवासियों ने इन गुणों की साधना की है, किस प्रकार भारत उत्पीड़ितों को शरण देनेवाला देश रहा है। उन्होंने उदाहरण दिया कि जब टाइटस ने जेरुसलम का ध्वंस किया और मन्दिर को विनष्ट किया तब यहूदियों के लिए हिन्दुओं ने अपने दरवाजे खोल दिये थे।

मूर्तिपूजा की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू लोग बाह्य आकारों पर ज्यादा जोर नहीं देते। कभी कभी तो परिवार का हर सदस्य अलग अलग मत का मानने वाला होता है, किन्तु वे सब के सब ईश्वर

की उपासना प्रेम-भाव से करते हैं। यह प्रेमभाव ही ईश्वर का केन्द्रीय गुण है। अच्छाई सभी धर्मों में है तथा सभी धर्म मनुष्य की पवित्रता की अन्त:प्रेरणा के प्रतीक हैं, इसलिए सभी का सम्मान किया जाना चाहिए। विभिन्न धर्मों की तुलना घड़ों से करते हुए उन्होंने बताया कि उन घड़ों को लेकर लोग एक झरने में पानी भरने जाते हैं। घड़ों के रूप तो बहुत से हैं किन्तु वह चीज जिसे सभी अपने घड़े में भरना चाहते हैं, एक ही है और वह है सत्यरूपी जल। ईश्वर सभी प्रकार के मतों को जानता है। उसके नाम को किसी भी रूप में क्यों न लिया जाय तथा उसके प्रति श्रद्धा किसी भी ढंग से क्यों न व्यक्त की जाय, वह उसे पहचान लेगा। उन्होंने आगे कहा कि हिन्दू उसी ईश्वर की उपासना करते हैं, जिसकी ईसाई करते हैं। हिन्दुओं के त्रिदेव––ब्रह्मा, विष्णु और शिव––सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता के रूप में उसी एक ईश्वर के प्रतीक हैं। इन तीनों को एक के बदले तीन मानना समझने की एक भूल है। इसी प्रकार, हिन्दू देवताओं की भौतिक मूर्तियाँ दिव्य गुणों की प्रतीक मात्र हैं। पुनर्जन्म के हिन्दू-सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने कृष्ण की कहानी सुनायी, जिनकी कथा ईसा की कथा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। उन्होंने कहा कि कृष्ण की शिक्षा प्रेम के लिए प्रेम की शिक्षा है और यदि प्रभु का भय धर्म का प्रारम्भ है तो ईश्वर का प्रेम उसका अन्त है।

अन्त में यह पत्र लिखता है-- "उनके समूचे भाषण को यहाँ अंकित करना कठिन है, किन्तु वह विश्व-बन्धुत्व के लिए एक उत्कृष्ट तथा प्रेरक अपील था तथा एक सुन्दर धर्म का जोश-भरा समर्थन था। उनका उपसंहार विशेष रूप से सुन्दर था, जब उन्होंने कहा कि वे ईसा को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं परन्तु उनका सिर कृष्ण और बुद्ध के सामने भी अवश्य नमेगा। उन्होंने सभ्यता की निष्ठुरता का एक सुन्दर चित्र खींचते हुए कहा कि प्रगति के नाम पर होनेवाले अपराधों के लिए वे ईसा को उत्तरदायी नहीं मानते।"

१७ जनवरी को स्वामीजी ने 'विमेन कौंसिल' में व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था--'मानव का भाग्य'। 'अपील अवलांश' ने १८ जनवरी के अंक में इसकी विस्तृत टीका करते हुए लिखः--श्रोताओं की संख्या सामान्यतः अधिक थी। उनमें नगर के सर्वोत्कृष्ट साहित्यकार तथा संगीतज्ञ थे। कानूनी पेशे तथा वित्तीय प्रतिष्ठानों के भी कुछ विशिष्टतम व्यक्ति उपस्थित थे।

यह वक्ता कुछ अमरीकी वक्ताओं से एक बात में विशेष रूप से भिन्न है। ये अपने विचारों को इस प्रकार विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जैसे गणित का प्राध्यापक अपने छात्रों को बीजगणित का कोई सवाल समझाता है। कानन्द अपनी शक्ति और योग्यता पर पूरा विश्वास रखते हुए भाषण करते हैं तथा समस्त तर्कों के विरुद्ध अडिग रहकर अपने विषय का सफलता-

पूर्वक प्रतिपादन करते हैं। वे ऐसा कोई विचार न तो पेश करते हैं और न उस पर बल ही देते हैं, जिसकी तार्किक ढंग से पुष्टि न की जा सके। उनकी वक्तृता बहुत-कुछ इंगरसोल के दर्शन से मेल खाती है। जैसा विश्वास ईसाइयों का ईश्वर के प्रति अथवा भविष्य में मिलनेवाले दण्ड के प्रति है, उस प्रकार का विश्वास उनका नहीं है। उनकी दृष्टि में मन अविनाशी नहीं, क्योंकि वह पराश्रित है, और जब तक किसी वस्तु की बिलकुल स्वतंत्र सत्ता न हो, तब तक वह अविनाशी नहीं हो सकती। वे कहते हैं, "ईश्वर कोई राजा नहीं है, जो जगत् के किसी कोने में बैठकर पृथ्वी के मनुष्यों को उनकी करनी के अनुसार दण्ड अथवा पुरस्कार देता है। ऐसा समय अवश्य आयेगा, जब मानव को इस सत्य का बोध होगा, और तब वह उठेगा एवं कहेगा--'मैं ईश्वर हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), 'मैं उसके जीवन का जीवन हूँ'। जब हमारा वास्तविक रूप, हमारा अमर सिद्धान्त ईश्वर ही है तब यह शिक्षा क्यों दी जाय कि ईश्वर बहुत दूर है ?

"अपने धर्म की 'आदिम पाप' की शिक्षा से तुम भ्रमित मत होओ, क्योंकि यही धर्म 'आदिम पवित्रता' की शिक्षा भी देता है। जब आदम का पतन हुआ तब वह पवित्रता से च्युत हुआ। (हर्षध्वनि।) पवित्रता हमारा वास्तविक स्वभाव है और उसकी पुनः-उपलब्धि सभी धर्मों का लक्ष्य है। सभी आदमी पवित्र हैं, सभी अच्छे हैं। इस पर कुछ आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं

और तुम पूछ सकते हो कि तब फिर कुछ लोग पशु-जैसे क्यों हैं ? जिस आदमी को तुम पशु कहते हो, वह मैल और धूल में सना हुआ हीरा है——धूल झाड़ दो और वह हीरा इतना निर्मल हो जायेगा मानो उस पर धूल कभी पड़ी ही न थी। हमें स्वीकार करना ही होगा कि प्रत्येक आत्मा एक बड़ा हीरा है।

"अपने भाई को पापी कहने से बढ़कर निम्नतर बात और कुछ नहीं है। एक बार एक शेरनी भेड़ों के झुण्ड पर टूट पड़ी और उसने एक भेड़ के बच्चे को मार डाला। एक भेड़ को शेर का नन्हा सा बच्चा मिला, जो उसके पीछे पीछे चल रहा था। भेड़ ने उसे अपना दूध पिलाया। भेड़ों के बीच वह बढ़ने लगा और उसने भेड़ की भाँति घास खाना सीख लिया। एक दिन एक बूढ़े सिंह ने इस भेड़-सिंह को देखा और उसे भेड़ों से अलग ले जाना चाहा, किन्तु उसके निकट पहुँचते ही यह भेड़-सिंह भाग गया। बड़ा सिंह प्रतीक्षा करता रहा और उसने भेड़-सिंह को अकेले में पकड़ लिया। उसे निर्मल जल के सरोवर के किनारे ले जाकर उसने कहा, 'तुम भेड़ नहीं हो, बल्कि सिंह हो। जल में अपना प्रतिबिम्ब तो देखो।' जल में प्रतिबिम्बित अपनी छाया को निहार-कर भेड़-सिंह ने कहा——'मैं सिंह हूँ, भेड़ नहीं।' हम भी अपने को भेड़ न समझें, वरन् सिंह बनें। भेड़ की तरह मिमियाना और घास खाना बन्द करें।

"चार महीने से मैं अमेरिका में हूँ। मासाचुसेट्स

में मैंने एक सुधारक-कारावास देखा। उस कारावार का जेलर कभी यह नहीं जानता कि कैदी किन अपराधों से जेल में रखे गये हैं। उनके चारों ओर सद्भाव का वातावरण बना दिया गया है। एक अन्य नगर में तीन ऐसे समाचार-पत्र थे जिनका सम्पादन बड़े विद्वान् व्यक्ति करते थे और जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे कि कठोर दण्ड देना आवश्यक है, जबकि एक दूसरा समाचार-पत्र यह मत प्रकट कर सन्तुष्ट था कि दण्ड से दया उत्तम है। एक अखबार के सम्पादक ने आँकड़ों के द्वारा सिद्ध किया कि जिन अपराधियों को कठिन दण्ड दिये गये थे उनमें से केवल पचास प्रतिशत लोग ही जेल से लौटने पर भले आदमी का जीवन बिताने लगे, जबकि हलके दण्ड पानेवालों में से नब्बे प्रतिशत लोग जेल से लौटने पर अच्छा जीवन बिताने लगे।

"धर्म मानव-स्वभाव की दुर्बलता का परिणाम नहीं, धर्म का अस्तित्व यहाँ इसलिए नहीं है कि हम किसी अत्याचारी से डरते हैं। धर्म प्रेम है जो खिल रहा है, वर्धमान है और विकासमान है। घड़ी का दृष्टान्त लो ——छोटीसी डिबिया में कल-पुर्जे हैं और एक स्प्रिंग है। स्प्रिंग में जब चाभी भर दी जाती है तो वह अपनी प्रकृत अवस्था को पुनः प्राप्त करने का यत्न करता है। तुम घड़ी के स्प्रिंग की भाँति हो। और यह आवश्यक नहीं कि सभी घड़ियों के स्प्रिंग एक प्रकार के हों और यह भी आवश्यक नहीं कि हम सबका धर्म एक ही हो। फिर

हम लड़ें क्यों ? यदि हम सभी लोगों के विचार एक से हों तो दुनिया मृत हो जाय। बाह्य गति को हम क्रिया कहते हैं और आन्तरिक गति है मानव-विचार। पत्थर पृथ्वी पर गिरता है। तुम कहते हो यह गुरुत्वाकर्षण के नियम का परिणाम है। घोड़ा गाड़ी को खींचता है और ईश्वर घोड़े को। यह गति का नियम है। भँवरें धारा की शक्ति प्रकट करती हैं, धारा रोक दो तो जल बँधकर सड़ने लगेगा। गति ही जीवन है। हमारे लिए एकता और विविधता अवश्य होनी चाहिए। गुलाब को कोई दूसरा नाम दे दो, तब भी वह उतनी ही मधुर सुगन्धि देगा; इसी प्रकार अपने धर्म को कोई भी नाम दे दो, उससे अन्तर नहीं पड़ेगा।

"एक गाँव में छः अन्धे रहते थे। वे हाथी देख तो नहीं सकते थे, पर वे बाहर निकले और उन्होंने हाथी का स्पर्श किया। एक ने अपना हाथ हाथी की पूंछ पर रखा तो दूसरे ने उसके बाजू के भाग पर, तीसरे ने सूंड़ पर तो चौथे ने उसके कान पर हाथ रखा। वे हाथी के रूप का वर्णन करने लगे। एक ने कहा, वह रस्सी-जैसा है। दूसरे ने कहा, वह भारी दीवार-जैसा है। तीसरे ने उसे अजगर-जैसा बताया और चौथे ने कहा कि वह पंखे-जैसा है। अन्त में वे भिड़ गये और एक दूसरे पर घूंसे बरसाने लगे। इतने में एक आँखोंवाला आदमी आया और उसने झगड़े का कारण पूछा। अन्धों ने कहा कि हम लोगों ने हाथी तो देखा है, लेकिन हम लोगों

में मतभेद है क्योंकि हममें से प्रत्येक अन्य दूसरों को झूठा कहता है। तब उस आँखोंवाले आदमी ने कहा, "तुम सब झूठ बोल रहे हो, क्योंकि तुम लोग अन्धे हो और तुममें से किसी ने हाथी को नहीं देखा है।" हमारे धर्म के मामले में भी यही बात है । हम अन्धों को हाथी देखने भेजते हैं ! (हर्षध्वनि)

"भारत के एक संन्यासी ने कहा, 'अगर आप कहें कि मैं मरुस्थल के बालू को पेरकर उसमें से तेल निकाल लूँगा, या यह कि मैं मगर के मुख से बिना उसके काटे दाँत उखाड़ लूँगा, तो मैं विश्वास कर लूँगा, लेकिन अगर आप कहें कि धर्मान्ध को बदला जा सकता है, तो आपका विश्वास नहीं करूँगा।' तुमपूछ सकते हो कि धर्मों में इतना भेद आखिर क्यों है ? उत्तर यह है--छोटी छोटी नदियाँ हजारों पहाड़ी कगारों से टकराती हुई अन्ततः महासागर में आ गिरती हैं। यही बात विभिन्न धर्मों पर लागू होती है। उनका लक्ष्य अन्त में हमें भगवान् के हृदय में पहुँचाने का है। उन्नीस सौ वर्षों से तुम लोग यहूदियों के दमन की कोशिश करते रहे हो। क्यों तुम उनका दमन न कर सके? प्रतिध्वनि उत्तर देती है--'अज्ञानता और धर्मान्धता सत्य का कभी दमन नहीं कर सकती'।"

वक्ता ने लगभग दो घंटे तक इसी प्रकार की तार्किक शैली में भाषण जारी रखा और इस कथन के साथ उसका उपसंहार किया, "हम सहायता करें, न कि विनाश।"

(क्रमशः)

श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक दिन—१

ब्रम्हचारी निर्गुण चैतन्य

एक दिन की बात है। ऋतुराज बसन्त ने तब अपने माधुर्य को सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रसारित कर दिया था। प्रकृति का सौन्दर्य पूर्णरूपेण निखर उठा था। वसुन्धरा की गोद नवपल्लवों और रंग-बिरंगे सुमनसमूहों से भर गयी थी। शीत तथा ग्रीष्म के सुखद-मिलन से स्थावर-जंगमों में नवीन प्राण संचारित हो उठे थे। इसीलिये करुणामय प्रभु ने भी प्राच्य और पाश्चात्य के सुखद-मिलन से एकांगी मानवजातियों में पूर्णत्वरूपी नवीन चेतना का संचार करने के लिये अपने आगमन का यही समय चुना।

धर्मावलम्बी भारतीयों ने भोग को त्याग के लिये अपनाया था। किन्तु पाश्चात्य भोगावलम्बी सभ्यता ने भारतीयों के हृदय को अपनी सम्मोहन-शक्ति का शिकार बना लिया। भारतीय मानने लगे कि भोग-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। त्याग और संयम-प्रधान प्राचीन लक्ष्य को त्यागकर वे भोगप्राप्ति के लिये व्यग्र हो उठे। फल यह हुआ कि भारत में प्राचीन शिक्षा-दीक्षा लुप्त होने लगी। भोग-लालसा-मुग्ध भारत का गौरवमय प्राचीन इतिहास तो मानो स्वप्न बनकर ही रह गया। समस्त विश्व को आध्यात्मिक प्रकाश देने-वाली सनातन ज्योति क्षीण होने लगी। योग तो गया

ही, भोग भी भारत के लिये दुष्प्राप्य हो गया। योग और भोग से च्युत होकर निराधार एवं निरुद्देश्य भारतवासी अस्तव्यस्त हो उठे। भारतवासी ही क्यों, समस्त मानवजाति ही धर्मशून्य भौतिकवाद की खोखली नींव पर डगमगाने लगी। पृथ्वी पर चहुँ ओर अशान्ति का हाहाकार मच गया। इसीलिये पूर्व परम्परानुसार श्रीभगवान् ने प्राच्य एवं पाश्चात्य की धर्मग्लानि को दूर कर शान्तिपूर्ण नवीन मार्ग में जीवन को ढालने की शिक्षा देने के लिये तथा धर्मचक्र की शिथिलता को दूर कर युग की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये अवतीर्ण होने की ठान ली।

इस बार लीलाभूमि थी कामारपुकुर। कामारपुकुर हुगली जिले में एक छोटा सा गाँव है जो बर्दवान से बत्तीस मील उत्तर में है। इस ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार अपनी धर्मनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध था। इस परिवार के गृहदेवता थे श्रीरघुवीर। परिवार के मुखिया क्षुदिराम के पवित्र एवं सरल स्वभाव से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें एक बार, दूसरे गाँव से लौटते समय, स्वप्न में दर्शन देकर कहा था, 'मैं कितने दिनों से यहाँ भूखा पड़ा हूँ। मुझे अपने घर ले चलो। तुम्हारी सेवा ग्रहण करने की मेरी तीव्र इच्छा है।' आँख खुलने पर क्षुदिराम ने देखा कि वास्तव में थोड़ी दूर पर एक रघुवीर-शिला विराजमान है। वे उस शिला को अपने घर ले आये। और तब से उस शिला की नियमित रूप

से पूजा हुआ करती। आज फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष का छठा दिवस था। श्रीमती चन्द्रामणि देवी श्रीरघुवीर के भोग के लिये रसोई बनाती हुई अपने हृदय में एक दिव्य आनन्द का अनुभव कर रही थीं। किन्तु सहसा उन्हें अपना शरीर अवसन्न प्रतीत होने लगा। उन्हें ऐसा लगा मानो उनका प्रसवकाल निकट आ पहुँचा हो। उन्हें चिन्ता हुई कि यदि अभी प्रसवकाल उपस्थित हो जाय तो घर पर ऐसा दूसरा कोई व्यक्ति नहीं है जो श्रीरघुवीर की सेवा की व्यवस्था कर सके। श्रीरघुवीर की सेवा नहीं हो पायेगी इस आशंका से घबड़ाकर वे पति के पास गयीं और अपनी आशंका कह सुनायी। क्षुदिराम ने सारी बात सुनी किन्तु वे विचलित नहीं हुए। वे जानते थे कि चन्द्रामणि देवी के गर्भ में जिनका शुभागमन हुआ है वे कभी भी श्रीरघुवीर की सेवा में विघ्न उपस्थित नहीं करेंगे।

सहसा उन्हें स्मरण हो आया—एक बार वे तीर्थाटन करते हुए गयाधाम दर्शन के लिये गये थे। प्राय: एक माह तक वे वहां रहे और तीर्थ के समस्त कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् उन्होंने भगवान् श्रीगदाधर के पादपद्मों में पिण्डदान किया। भगवत्कृपा से सभी कार्यों का सम्पादन होने पर उनका हृदय भगवत्प्रेम से उल्लसित हो उठा। दिन और रात सब समय उनका हृदय आनन्द और उल्लास से भरा रहता। उन्होंने एक रात स्वप्न में देखा कि वे भगवान् श्रीगदाधर के मन्दिर में

बैठे हुए हैं और पुनः पिण्डदान कर रहे हैं तथा उनके सभी पितृगण दिव्य एवं ज्योतिर्मय देह धारण कर उनके द्वारा प्रदत्त पिण्डों को सहर्ष ग्रहण करते हुए आशीर्वाद दे रहे हैं। क्षुदिराम का शरीर रोमांचित हो उठा। बहुत समय पश्चात् आज पितरों के दर्शन कर वे अत्यन्त विह्वल हो उठे और प्रगाढ़ भक्तिपूर्वक प्रेमाश्रु बहाते हुए उनके चरणों में प्रणाम करने लगे। उसके बाद वे क्या देखते हैं कि एक अद्भुत दिव्य ज्योतिर्मय पुरुष एक अति सुन्दर सिंहासन पर अत्यन्त रमणीय मुद्रा में विराजित हैं और पितृगण दोनों हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक उनकी उपासना कर रहे हैं। क्षुदिराम ने पुनः देखा कि नवदूर्वादल के सदृश श्यामवर्ण ज्योतिर्मय वे पुरुष अत्यन्त कृपामयी प्रसन्न दृष्टि से उनकी ओर निहार रहे हैं और उन्हें अपने समीप आने का संकेत कर रहे हैं। संकेत पाकर वे भी मंत्रमुग्ध-से उस पुरुष की ओर चले और भक्तिपूर्ण हृदय से प्रणाम कर आवेग के साथ विविधरूप से उनकी स्तुति और वन्दना करने लगे। उनकी भक्ति से प्रसन्न हो दिव्य पुरुष ने मधुर स्वर में कहा, "क्षुदिराम! तुम्हारी भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ, पुत्ररूप से मैं तुम्हारे घर पर अवतीर्ण होकर तुम्हारी सेवा ग्रहण करूँगा।" एक ओर तो इन वचनों ने क्षुदिराम के हृदय में आनन्द की लहर दौड़ा दी पर दूसरी ओर उन्हें चिन्ता ने आ घेरा। उन्होंने गद्गद् वाणी से कहा, "नहीं, नहीं, प्रभो! मैं अति दरिद्र हूँ।

आपकी सेवा करने का भला मेरे पास साधन ही कहाँ है ? आपकी सेवा न कर पाने पर मैं दोष का भागी नहीं होना चाहता। आपके दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ हूँ। बस इतनी ही कृपा रखिये।" इस प्रकार के करुण वचनों को सुनकर उस दिव्य पुरुष ने हँसते हुए कहा, "क्षुदिराम ! डरने की कोई बात नहीं है। तुम जो कुछ मुझे दोगे, सन्तोष के साथ मैं वही ग्रहण करूँगा। मेरी इच्छा में तुम बाधक न बनो।" प्रभु का आग्रह देख क्षुदिराम के हृदय में आनन्द और भय दोनों के एक साथ उदय होने के कारण वे हक्के-बक्के से हर गये। उसी समय उनकी नींद खुल गयी।

इस घटना का स्मरण आने पर क्षुदिराम प्रफुल्लित हो गये कि अब वह दिन निकट आ गया है जब वही भगवान् गदाधर उनके घर आ रहे हैं। इसलिये बड़े विश्वास और धैर्य से उन्होंने अपनी पत्नी चन्द्रादेवी से कहा, "घबड़ाने की कोई बात नहीं है। तुम्हारे गर्भ में जिनका शुभागमन हुआ है वे श्रीरघुवीर की सेवा में कभी भी अड़चन नहीं डालेंगे। क्या तुम भूल गयीं कि उपर्युक्त घटना के बाद ही एक दिन जब तुम युगियों के शिव-मन्दिर के सम्मुख खड़ी खड़ी धनी से बातें कर रही थीं तो तुमने देखा था कि श्रीमहादेवजी के अंग से एक दिव्य ज्योति निकली और उसने मन्दिर को परि-पूर्ण कर दिया। फिर वह ज्योति मन्दिर से निकलकर तुम्हारी ओर बढ़ी और तुम्हें पूर्णरूप से आच्छादित कर

तीव्र वेग से तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट हो गयी। तब तुम्हें ऐसा प्रतीत हुआ था कि वह ज्योति तुम्हारे उदर में गर्भरूप से विद्यमान है। उपर्युक्त घटना के बाद से ही तुम्हें अनेकों दिव्य दर्शन और अनुभव प्राप्त हुए थे तथा देवी-देवताओं के दर्शन भी हुए थे। अतः हे देवि! अबकी बार तुम पुरुषोत्तम भगवान् को गर्भ में धारण-कर जन्ममरणरूपी बन्धन से मुक्त हो गयी हो। अब भगवान् इस धराधाम पर लीला करने तुम्हारे पुत्र के रूप में आ रहे हैं। इसलिये चिन्ता न करो, यह तो आनन्द का समय है। श्रीरघुवीर के चरणों में पूर्णरूप से शरणागत हो जाओ और आनेवाले प्रभु की प्रतीक्षा आनन्द से करो। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आज तुम श्रीठाकुर की सेवा अवश्य ही कर सकोगी; कल से उसके लिये मैंने दूसरी व्यवस्था कर रखी है तथा धनी को भी आज रात से यहीं सोने के लिये कह दिया है।"
पति की बात सुनकर चन्द्रामणि देवी को सारी घटनाएँ स्मरण हो आयीं और वे आनन्दित हो उठीं; उन्हें नवीन बल प्राप्त हुआ। वे पुनः उत्साहपूर्वक अपने काम-काज में लग गयीं।

उस दिन श्रीरघुवीर की सेवा निर्विघ्न सम्पन्न हुई। उपर्युक्त व्यवस्थानुसार धनी उस रात चन्द्रादेवी के कमरे में सोयीं। रात्रि व्यतीत होने में प्रायः अर्धघटिका अवशिष्ट थी, प्रसवपीड़ा से चन्द्रादेवी की नींद टूट गयी। क्षुदिराम के मकान में एक कमरा था जिसमें

श्रीरघुवीर विराजमान थे। इसके अतिरिक्त एक रसोई-घर था तथा दो कमरे और थे। फिर एक छोटी सी कुटिया थी जिसमें धान कूटने की एक ढेंकली और धान सिझाने के लिये चूल्हा था। इसी कुटिया में धनी चन्द्रा-देवी को ले गयी और उन्हें लिटा दिया। जननी चन्द्रा-देवी के गर्भ से दिव्य पुत्र का आविर्भाव हुआ। चन्द्रादेवी की तात्कालिक व्यवस्था करने के पश्चात् जब धनी नवजात शिशु की शुश्रूषा के लिए बढ़ी तो उसका कलेजा काँप उठा। शिशु अपने स्थान पर न था। भयभीत धनी दीपक की बत्ती को और बढ़ाकर उसे चारों ओर खोजने लगी। कैसा आश्चर्य! वह तो धान सिझाने के चूल्हे में घुसकर राख में लिपटा हुआ चुप-चाप पड़ा था। धनी धीरे धीरे आगे बढ़ी और शिव के समान भस्म लिपटाये शिशु को उठा लिया और उसके शरीर को साफ करने लगी। दीपक के प्रकाश में जब उसकी दृष्टि बालक के मुख पर पड़ी तो क्या देखा? अद्भुत सुन्दर बालक, जिसके मुख पर अपूर्व तेज और अलौकिक मुस्कान थी। देखने में वह छः महीने के बच्चे-जैसा हृष्टपुष्ट था। धनी विस्मित हो उस बालक को देख रही थी जिसने आगे चलकर उसे अपनी धर्म-माता का स्थान दिया और सदा सदा के लिये उसका नाम अमर कर दिया।

पुत्र-जन्म की घोषणा करते हुए पवित्र गम्भीर ब्राह्म मुहूर्त में क्षुदिराम के आँगन में शंख ध्वनित हो उठा।

आज है बँगला फाल्गुन ६, सन् १२४२, शुभ द्वितीया तिथि, शकाब्द १७५७, दिनांक १७ फरवरी, १८३६ ई.; शुक्ल पक्ष, बुधवार; रात की ३१ घड़ी व्यतीत होने के बाद अर्धघटिका मात्र अवशिष्ट काल में बालक का जन्म हुआ। यही बालक आगे चलकर रामकृष्ण परमहंस के नाम से विख्यात हुआ। उसके जीवन का यह पहला दिन था।

●

दूसरों के प्रति हमारे कर्तव्य का अर्थ है—दूसरों की सहायता करना, संसार का भला करना। अब प्रश्न यह उठता है कि हम संसार का भला क्यों करें ? वास्तव में बात यह है कि ऊपर से तो हम संसार का उपकार करते हैं, परन्तु असल में हम अपना ही उपकार करते हैं। ..एक दाता के ऊँचे आसन पर खड़े होकर और अपने हाथ में दो पैसे लेकर यह मत कहो, "ऐ भिखारी, ले, यह म तुझे देता हूँ।" परन्तु तुम स्वयं इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि तुम्हें वह निर्धन व्यक्ति मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पानेवाला नहीं होता, देनेवाला होता है। इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ।

—स्वामी विवेकानन्द

कौआ चलै हंस की चाल !

सन्तोष कुमार झा

महाभारत का तुमुल युद्ध चल रहा था। अनेक रथी-महारथी युद्ध में काम आ चुके थे। दोनों पक्ष विजय की आशा से प्राणप्रण से लड़ रहे थे।

दुर्योधन ने कर्ण से सैन्य-संचालन की प्रार्थना की। कर्ण अस्त्र-शस्त्र के सन्धान और सैन्य-संचालन में कुन्ती-नन्दन अर्जुन से कम न थे। किन्तु एक बात उनके मन में खटक रही थी। वे सोच रहे थे, यदि कुन्तीनन्दन के पास गाण्डीव धनुष है, तो मेरे पास भी ऐसा श्रेष्ठ धनुष है जिसके द्वारा मैं गाण्डीव से चलाये गये बाणों को निरस्त कर सकता हूँ। यदि अर्जुन के पास दिव्यास्त्र हैं तो मेरे पास भी इन्द्र द्वारा दी गयी शक्ति है। उसके प्रयोग के द्वारा मैं अर्जुन को यमलोक भेज सकता हूँ। अर्जुन के कपिध्वज रथ की तुलना में मेरा रथ कहीं अधिक श्रेष्ठ है। किन्तु, अर्जुन के रथ के सारथि स्वयं श्रीकृष्ण हैं। उनके अद्वितीय सारथ्य के कारण ही अर्जुन से युद्ध करना मुझे कठिन प्रतीत हो रहा है। यदि मैं कृष्ण-जैसा कुशल सारथी पा सकूँ तो मेरी विजय निश्चित है।

समस्त कौरवसेना में मद्रराज शल्य के सारथ्य-कौशल की गौरवगाथा गायी जा रही थी। कर्ण भी जानते थे कि रथ-संचालन की कला में यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण

की बराबरी कर सकता है तो वे हैं मद्रनरेश शल्य ।

किन्तु कर्ण के मन में शंका उठी कि क्या मद्रराज शल्य मेरा सारथ्य स्वीकार करेंगे ? दूसरे ही क्षण उनके अहंकार ने कहा--शल्य महाराज दुर्योधन की ओर से युद्ध करने आये हैं, अतः वे महाराज के आज्ञानुवर्ती हैं । मैं महाराज दुर्योधन से ही प्रार्थना करूंगा कि वे शल्य को मेरा सारथि बनने की आज्ञा दें ।

दुर्योधन ने शल्य से कर्ण का रथ-संचालन करने की प्रार्थना की । शल्य ने इस पर रोष व्यक्त किया, किन्तु युद्ध के नियमों का पालन करने के कारण उन्होंने कर्ण का सारथि होना स्वीकार कर लिया ।

यद्यपि शल्य ने कर्ण के रथ-संचालन का भार ले लिया था तथापि उनके मन में कर्ण के प्रति श्रद्धा और स्नेह नहीं था । उनकी श्रद्धा और प्रीति तो भगवान् वासुदेव तथा अर्जुन के प्रति ही थी ।

रथ पर सवार होने के पश्चात् कर्ण शल्य से अपनी वीरता और रण-कौशल की प्रशंसा करने लगे तथा पाण्डवों के बल-पराक्रम की निन्दा कर उन्हें तुच्छ और हेय बताने लगे । कर्ण को अपनी प्रशंसा आप करते देख शल्य को बड़ा क्रोध आया । उन्होंने कर्ण को फटकारा और उसकी क्षुद्रता बताने के लिये एक आख्यान बताया ।

समुद्र-तट पर एक सम्पन्न वैश्य-परिवार रहता था । उसके छोटे छोटे पुत्र थे । वे बालक बड़े विनोदी और

नटखट थे । बालकगण अपने भवन के उद्यान में बैठकर भोजन किया करते । वहाँ एक कौआ आया करता था । बालक कुतूहलवश उस कौए को अपनी जूठन खिलाया करते । इससे इधर उनका विनोद होता और उधर पौष्टिक तथा स्वादिष्ट जूठन खा-खाकर कौआ हृष्ट-पुष्ट हो गया । पुष्ट होकर उसे बहुत अभिमान हो गया । वह दूसरे पक्षियों की हँसी उड़ाया करता और उनके सामने सदैव अपने बल और विभिन्न उड़ानों की प्रशंसा करता । एक बार मानसरोवर से कुछ हंस उड़ते उड़ते उधर आ निकले । हंसों को आया देख दूसरे सभी पक्षी उनसे मिलने गये और उनका आदर किया । जूठन खानेवाले कौए को यह देख बड़ी ईर्ष्या हुई । वह अपने साथियों को ले हंसों के पास गया और अपने क्षुद्र स्वभाव के अनुसार उनका उपहास करने लगा । उसने व्यंग्य करते हुए एक हंस से कहा, "तुम लोग तो बस एक ही प्रकार की उड़ान जानते हो । सीधे सीधे उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हो । मुझे देखो, मैं सौ प्रकार की उड़ानें जानता हूँ ।" ऐसा कहकर कौए ने ऊपर-नीचे आगे-पीछे कई उड़ानें लगायीं । कौए को उड़ान की कलाबाज़ियाँ करते देख उसके साथी दूसरे कौए बड़े प्रसन्न हुए और वे लोग भी हंसों का उपहास करने लगे । जूठन खानेवाले कौए ने एक हंस को चुनौती देते हुए कहा, 'तुम तो मानसरोवर के हंस हो, आओ मेरे साथ उड़ने की होड लगा लो । मैं निश्चय-

पूर्वक जानता हूँ कि तुम मुझसे जीत नहीं सकते। मैं सौ प्रकार की उड़ानें जानता हूँ। अपनी विचित्र उड़ानों से चकित कर मैं तुम्हें अवश्य ही पराजित कर दूंगा।" हंस ने हँसकर कहा, "भाई कौए ! यदि तुम चुनौती देते हो तो आओ, मैं भी होड़ लगाने को प्रस्तुत हूँ। मैं तो एक ही प्रकार की उड़ान जानता हूँ जिसे सभी पक्षी जानते हैं। मैं तो उसी उड़ान से उड़ूंगा। तुम अपनी इच्छानुसार किसी भी उड़ान से उड़ सकते हो।"

हंस की बात सुनकर सभी कौए हँसने लगे और व्यंग्य कसते हुए उसका उपहास करन लगे।

एक निर्धारित स्थान से कौआ और हंस उड़े। हंस तो अपनी सामान्य मन्थर गति से उड़ने लगा, किन्तु अभिमानी कौआ ऊपर-नीचे दायें-बांये उल्टे-सीधे उड़-उड़कर हँस को अपनी कलाबाजियाँ दिखाने लगा। कौए की कलाबाजियां देख उसके दूसरे साथी प्रसन्न होकर कर्कश स्वर में कांव-कांव करते हुए हंसों की हँसी उड़ाने लगे।

प्रतियोगी हंस मन्थर गति से महासागर की ओर उड़ा जा रहा था। कौआ भी कलाबाजियाँ करता हुआ हंस के सामने सामने उड़ रहा था। किन्तु थोड़ी ही देर में कौए को थकान का अनुभव होने लगा। उसने अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। सभी ओर अथाह सागर ! कहीं कोई आश्रय नहीं। अगाध जलराशि देख कौए का साहस भी जाता रहा। उसके डैने पहले ही थक चुके थे।

वह हंस से पीछे हो गया। अब जल से अधिक ऊपर रहना उसके लिये कठिन हो गया। समुद्र की उत्ताल तरंगें बीच बीच में उसका स्पर्श करने लगीं। थोड़ी देर में उसकी चोंच भी जल को छूने लगी और उसे साक्षात् मृत्यु के दर्शन होने लगे।

कौए की आहट न पा हंस ने पीछे मुड़कर देखा। कौए की दशा देख वह हँसा और उसने कौए से कहा, "क्यों भाई काक ! यह कौन सी नयी उड़ान है ? इसके विषय में तो तुमने मुझे नहीं बताया था।"

हंस की बात सुन कौए ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "भैया हंस ! मैं सचमुच बड़ा धूर्त और अज्ञानी हूँ। वैश्य-पुत्रों की जूठन खा-खाकर मैं अपने आप को बड़ा शक्तिशाली समझने लगा था। मैंने अपनी वास्तविकता भुला दी थी। पर अब मैं परास्त हो चुका हूँ। मेरे प्राण संकट में हैं। मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मेरे प्राणों की रक्षा करो।"

जब हंस ने कौए की दयनीय अवस्था देखी और उसकी बातें सुनीं, तो उसे उस पर दया हो आयी। उसने अपने पंजों से कौए को उठा लिया और अपनी पीठ पर बिठाकर उसे सागर के तट पर लाकर छोड़ दिया।

इस आख्यान के द्वारा शल्य ने कर्ण को यह बतलाना चाहा कि अहंकार के क्या दुष्परिणाम होते हैं तथा आत्मप्रवंचना के कारण अहंकारी व्यक्ति अन्त में अपनी

कैसी दुर्गति कर लेता है। मनुष्य को आत्मविश्वासी तो होना चाहिए, पर अभिमानी नहीं। कर्ण को अभिमान के भुजंग ने डस लिया था। आत्मविश्वास और अभिमान में सूक्ष्म अन्तर है। आत्मविश्वास में जहाँ व्यक्ति को अपनी योग्यता और क्षमता का ज्ञान रहता है, वहाँ अभिमान में उसे दूसरों के दोषों और दुर्गुणों का अधिक ध्यान रहता है। अभिमानी व्यक्ति सदैव अपनी योग्यता और शक्ति को बढ़ाकर तथा दूसरे की योग्यता और शक्ति को घटाकर देखता है। अभिमानी आत्म-प्रशंसक तथा पर-निन्दक होता है। किन्तु आत्म-विश्वासी व्यक्ति सदैव अपनी क्षमता और योग्यता का सही मूल्यांकन करता है तथा दूसरे की योग्यता और क्षमता को भी उचित रीति से आँकता है। अपनी क्षमता का यथार्थ ज्ञान तथा दूसरों की योग्यता का सही अनुमान व्यक्ति को जीवन-संग्राम में विजयी और यशस्वी बनाता है।

•

यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, चिरन्तन और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न—(१) सत्य क्या है? (२) सत्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है? (३) जीवन क्या है? जीवन का सत्य के साथ क्या सम्बन्ध है?

—सेठ गोविन्ददास, संसद्-सदस्य

उत्तर—(१) सत्य के दो प्रकार हैं—व्यावहारिक और पारमार्थिक। देह और मन व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं, जबकि आत्मा की सत्यता पारमार्थिक है। अतएव आत्मा शाश्वत और सर्वव्यापी है और इसीलिए वह परम सत्य है। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि एक काल में दोनों सत्य नहीं भासते। जब व्यावहारिक सत्य भासता है तब पारमार्थिक सत्य सामने नहीं रहता और पारमार्थिक सत्य के अनुभूत होने से व्यावहारिक सत्य गायब हो जाता है। रस्सी और सर्प एक साथ नहीं दिखते। या तो सर्प, या फिर रस्सी। इलेक्ट्रान कभी लहर (wave) के रूप में दिखता है तो कभी कण (particle) के रूप में एक ही काल में वह लहर और कण नहीं होता। जब वह कण है तब लहर नहीं, जब लहर है तब कण नहीं। इसी प्रकार, जब देह-मन दिखते हैं तब आत्मा का बोध नहीं है; और जब आत्मा का बोध है तब देह–मन नहीं हैं।

(२) इस सत्य को प्राप्त करने का तरीका है 'योग'। योग

का क्या मतलब है इसे भी समझ लेना चाहिए। योग का लक्ष्य है--मन का अपने ऊपर एकाग्र हो जाना। यह लक्ष्य और इस लक्ष्य को जिस उपाय से पाया जाता है वह उपाय--दोनों ही योग के अन्तर्गत आते हैं। वैसे तो मन अपनी अभिरुचि के विषय में अनायास ही एकाग्र हो जाता है। जिसे चित्रकारी में रुचि है, उसका मन चित्र बनाते समय संसार के विषयों से हटकर चित्र बनाने में लग जाता है। पर यह योग की एकाग्रता नहीं है। शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान में इतनी एकाग्र और तन्मय हो गयी थी कि उसे दुर्वासा ऋषि के आगमन का पता न चला। पर इसे योग की एकाग्रता नहीं कहा जा सकता। योग की एकाग्रता का मतलब है --मन का संसार के विषयों से हटकर अपने आप में केन्द्रित हो जाना। यह जिस उपाय से भी सधे, उसे योग कहते हैं।

आज हमारा मन अत्यन्त चंचल है, बिखरा हुआ है। उसमें असीम सम्भावनाएँ निहित हैं, पर उसके बिखराव के कारण उसमें भेदन-शक्ति (penetrating power) नहीं है; वह अपनी गहराइयों में नहीं उतर पाता। पर अगर किसी उपाय से मन के बिखराव को समेटकर उसे अपने ही ऊपर एकाग्र करने में हम समर्थ हो सकें तो इसी मन में इतनी भेदन-शक्ति आती है कि वह अपनी गहराइयों में धीरे धीरे उतरता जाता है, अपनी परतों का छेदन करता जाता है। इसी को राजयोग की भाषा में कुण्डलिनी का जागरण या षट्चक्रभेदन कहते हैं और वेदान्त की भाषा में इसे पंचकोश-भेदन के नाम से जानते हैं। भेदन करते करते एक ऐसी अवस्था आती है जब मन अपने को मानो छलांग-सा मारकर पार हो जाता है। इसी को अमनी-मन की अवस्था, तुरीय, चतुर्थ अवस्था, सत्य का साक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन आदि आदि नामों से पुकारते हैं।

यह ठीक मानो इस प्रकार है जैसे आलोक की सामान्य किरण। इस किरण में भेदन-शक्ति नहीं होती। पर अगर इसकी frequency बढ़ा दें, इसके स्पन्दन को तीव्र कर दें तो यही एक्स-रे बन जाती है और कई वस्तुओं को भेद देती है। यह सामान्य हवा है, इसमें कोई दबाव या शक्ति नहीं मालूम पड़ती। पर अगर इसी को compress कर दें। दबा दें, तो इस compressed air (दबी हवा) से कठोर से कठोर चट्टानें कट जाती हैं। हवा-दबावक (Air-compressor) के पीछे यही तत्त्व है। ठीक इसी प्रकार, जब मन को उसके अपने ऊपर ही केन्द्रित किया जाता है तो उसमें अन्दर घुसने की क्षमता आ जाती है। जिस किसी उपाय से यह सधता है उसे 'योग' कहते हैं। यह योग ही सत्य की प्राप्ति का साधन है। इस योग को प्रवृत्ति-प्रधानता की दृष्टि से ज्ञान, कर्म, भक्ति और राज ऐसे चार भागों में बाँटा गया है।

(३) ऊपर में जिसे हमने व्यावहारिक सत्य कहकर पुकारा, उसे 'जीवन' कहते हैं। जिस रूप में हम संसार को देखते और उसका अनुभव करते हैं, सामान्य भाषा में उसी को हम जीवन कहते हैं। पर साधना की भाषा में जीवन तभी जीवन है जब वह पारमार्थिक सत्य को पाने का साधन बन जाता है। साधना-हीन जीवन पशु का जीवन है। विवेकहीन जीवन पशु का जीवन है। धर्महीन जीवन पशु का जीवन है। यह साधना या विवेक या धर्म क्या है? वह, जो हमारे वर्तमान जीवन को उस सत्य की प्राप्ति का साधन बना दे; क्योंकि जीवन और सत्य में परस्पर साधन और साध्य का सम्बन्ध है।

•

आश्रम समाचार

(१ दिसम्बर १९७० से २८ फरवरी १९७१ तक)

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

ऐलोपैथी विभाग--आलोच्य ३ माह की अवधि में कुल १२,८९१ रोगियों की नि:शुल्क चिकित्सा की गयी, जिनमें ४,०९६ रोगी नये थे। इनमें क्रानिक उदररोग से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या ६६ थी। १,११० इंजेक्शन लगाये गये। ३८ दन्त-रोगियों में से ७ रोगियों के दांत निकाले गये। सर्जिकल--३६। माइनर सर्जिकल आपरेशन--७। आंखों के रोगी--१०३। स्त्री-रोग से रुग्ण-- १२६। एक्स-रे स्क्रीनिंग--७१। बेरियम स्टडीज--५७। एक्स-रे फिल्म--६। सिगमोइडोस्कोपी--१५। रक्त-मल-मूत्र परीक्षण-- १६२ नमूने। ए. एच. टेस्ट--२७। शिशु-रोगी--१,२२३। अभावग्रस्त परिवारों के लगभग ५०० बच्चों को दूध बांटा गया।

होमियोपैथी विभाग— इस विभाग द्वारा ४,४६५ रोगियों का नि:शुल्क उपचार किया गया जिनमें ८७८ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और नि:शुल्क वाचनालय

आलोच्य अवधि में ग्रन्थालय में ६५ पुस्तकों की वृद्धि हुई। २८ फरवरी को पुस्तकों की कुल संख्या १५,६१५ थी। इस बीच ८,५२८ पुस्तकें निर्गमित हुईं। वाचनालय में पाठकों को ९८ पत्र-पत्रिकाएं और दैनिक समाचार-पत्र उपलब्ध हुए। इस अवधि में लगभग ८,६४० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया।

३. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग— रविवासरीय गीताप्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ६, १३ दिसम्बर तथा १४ फरवरी

को गीता पर प्रवचन दिये। अब तक गीता पर उनके १०० प्रवचन हो चुके हैं।

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य ने ८, २९ दिसम्बर तथा २, ७ एवं २३ फरवरी को रामचरितमानस पर प्रवचन दिया।

श्री सन्तोषकुमार झा ने १, १५, २२ दिसम्बर, ५ जनवरी तथा ९, १६ फरवरी को नारदभक्तिसूत्र पर प्रवचन दिया।

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा ने ३, १७, ३१ दिसम्बर तथा ११, २५ फरवरी को हिन्दू धर्म पर प्रवचन दिया।

डा. अशोक कुमार बोरदिया ने १०, २४ दिसम्बर. ७ जनवरी तथा ४, १८ फरवरी को पातंजल-योगदर्शन पर प्रवचन दिया।

२१ फरवरी को श्री प्रेमचंद जैस की रामायण-कथा हुई।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

२७ दिसम्बर को स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी व्योमानन्दजी ने 'गीता का शाश्वत सन्देश' पर व्याख्यान दिया।

३ जनवरी को प्रसिद्ध साहित्यकार डा. प्रभाकर माचवे ने 'विश्व संस्कृति पर भारतीय धर्म और संस्कृति की छाप' विषय पर व्याख्यान दिया, जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की।

१० जनवरी को सरदार सन्तसिहजी मस्कीन, अलवर ने 'जीवन में धर्म का स्थान' विषय पर प्रवचन दिया।

श्री माँ सारदा जयन्ती

२० दिसम्बर को श्री माँ सारदादेवी का ११८ वीं जयन्ती-महोत्सव आश्रम में सोल्लास मनाया गया। प्रातः ५॥ बजे मंगल-आरती से उत्सव प्रारम्भ हुआ, जिसकी समाप्ति सन्ध्या एक सार्वजनिक सभा से हुई। इस सभा की अध्यक्षता श्रीमती प्रकाशवती मिश्र ने की। श्रीमती प्रीति त्रिपाठी, प्राध्यापिका (श्रीमती) विद्या गोलवलकर, प्रा. (श्रीमती) निवेदिता गुप्ता

तथा स्वामी आत्मानन्द ने श्रीमाँ के जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं पर विचार व्यक्त किये।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह

इस वर्ष यह समारोह ११ जनवरी से लेकर ३१ जनवरी तक बड़े धूमधामपूर्वक मनाया गया। ११ से १८ जनवरी तक माध्यमिक शालाओं, उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया था; जैसे—पाठावृत्ति वाद-विवाद और विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता।

१९ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द का १०९ वाँ जन्मदिवस था। सुबह ५॥ बजे से आरती, भजन, पूजा आदि का आयोजन था और सन्ध्या एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सहायक महासचिव श्रीमत् स्वामी चिदात्मानन्दजी महाराज ने की। ग्वालियर की राजमाता श्रीमंत विजया राजे सिन्धिया ने इस समारोह का उद्घाटन किया। परिसंवाद का विषय था— 'श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-आविर्भाव की अपूर्वता'।

प्रारम्भ में डा. अरुण कुमार सेन ने विभिन्न राग-रागिनियों में 'विवेकानन्द गीति' प्रस्तुत कर श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। तत्पश्चात् प्रमुख अतिथि महोदया ने अपने प्रभावी भाषण में वर्तमान परिस्थिति में स्वामी विवेकानन्द के विचारों और चिन्तन की अधिक आवश्यकता प्रतिपादित की। उनका पूरा भाषण इसी अंक में अन्यत्र छापा गया है।

स्वामी चिदात्मानन्दजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि स्वामी विवेकानन्दजी ने आत्मदर्शन के लिए तो प्रेरित किया ही था, किन्तु इसके साथ ही दूसरों के लिए भी कुछ करने कहा। आपने कहा कि स्वामी विवेकानन्दजी सच्चे अर्थों में देशभक्त

थे। उनकी देशभक्ति के पीछे संकीर्ण भावना न होकर वे सम्पूर्ण विश्व को सामने रखकर विचार करते थे। इसीलिए वे कहा करते थे कि विश्व को बचाना है तो भारत को जीवित रखना होगा। और भारत को जीवित रखने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं--मातृभूमि की सेवा के लिए उत्कट इच्छा, उसके लिए बनायी गयी योजनाओं को ठोस रूप में कार्यान्वित करना तथा अधिक से अधिक त्याग की भावना से कार्य करना।

स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए जंगल में न जाकर अपने में व्याप्त दुर्गुणों को समाज-सेवा, निरीहों की सेवा करके निकाल सकते हैं; पर सेवा नि:स्वार्थ होनी चाहिए। मनुष्य में सेवा और त्याग की भावना हो तभी वह सफल हो सकता है। चिदात्मानन्दजी ने कहा कि यद्यपि आज स्थिति विषम और विकट है, तथापि धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य इस देश में आशा की किरण के रूप में विद्यमान हैं जिसें जगाने के लिए रामकृष्ण मठ और मिशन की शाखाएँ सचेष्ट हैं।

इसी अवसर पर रामकृष्ण आश्रम, नागपुर के वरिष्ठ संन्यासी स्वामी व्योमरूपानन्दजी ने 'विवेकानन्द-आविर्भाव की अपूर्वता' विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द का स्थान धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उच्च है। स्वामीजी ने तत्कालीन भारत की दुर्बल, हताश एवं निराशापूर्ण स्थिति में लुप्तप्राय धर्म और संस्कृति के लिए मार्ग प्रशस्त कर पुनर्जागरण का महत् कार्य सम्पादित किया। आपने बताया कि युवा पीढ़ी पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण कर पथभ्रष्ट हो रही थी, स्वामी विवेकानन्द ने उनका ध्यान पुन: धर्म, संस्कृति एवं अध्यात्म की ओर मोड़ने का एक अनुकरणीय उपक्रम किया। यदि विवेकानन्दजी का वास्तविक स्वरूप जानना हो तो उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय करना होगा। उन्होंने जो कुछ भी किया वह

उनके आत्मज्ञान का प्रभाव है।

अन्त में प्रमुख अतिथि राजमाता श्रीमंत विजया राजे सिन्धिया द्वारा विभिन्न प्रतियोगिताओं के विजेता प्रतियोगियों को पुरस्कार वितरित किया गया। लगभग ५००० लोगों ने इस कार्यक्रम का आनन्द उठाया।

२० जनवरी को सर्वधर्मसम्मेलन का आयोजन किया गया था, जिसका उद्‌घाटन स्वामी चिदात्मानन्दजी ने किया। उन्होंने अपने उद्‌घाटन-भाषण में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के सर्वधर्म-स्वरूप जीवन की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि वस्तुतः सभी धर्म एक ही लक्ष्य की बात करते हैं। उनका बात करने का तरीका अलग अलग हो सकता है पर गन्तव्य का स्वरूप, सकल धर्मों के अनुसार, एक ही है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने धर्म में निष्ठा रखे और अन्य धर्मों के प्रति समादर का भाव पोषित करे। श्रीरामकृष्ण देव का जीवन विभिन्न धर्मों के समन्वय का एक अपूर्व दृष्टान्त है।

इस अवसर पर स्वामी व्योमरूपानन्दजी, रे० फादर मैथ्यू मुलाव्हना, प्रा. कनककुमार तिवारी, अल्लामा कारी अहमद जिया फजील अजहर, डा. अशोककुमार बोरदिया, श्रीमती बेप्सी सेठी, सरदार वीरमसिंह तथा रे० डी. एस पाठक बी. डी. ने क्रमश: हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम, जैन, पारसी, सिक्ख और यहूदी धर्मों पर विचार व्यक्त किये। स्वामी आत्मानन्द ने सम्मेलन की अध्यक्षता की।

२१ से २७ जनवरी तक भारत-प्रसिद्ध रामायणी पं. रामकिंकर जी उपाध्याय के रामायण-प्रवचन हुए। प्रतिदिन ५ से ७ हजार तक श्रोताओं की उपस्थिति रही।

२८ से ३१ जनवरी तक भानुपुरा उप-पीठ के प्राक्तन शंकराचार्य श्री स्वामी सत्यमित्रानन्दजी गिरि तथा कु. सरोजबाला के

आध्यात्मिक प्रवचन हुए। प्रतिदिन ७ से १२ हजार लोगों ने इन प्रवचनों का आनन्द उठाया।

श्रीरामकृष्ण जयन्ती समारोह

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का १३६ वाँ जन्मोत्सव २७ एवं २८ फरवरी को उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया गया। २७ फरवरी को जन्मतिथि के उपलक्ष में विशेष पूजा-आरती तथा भजन-कीर्तन के कार्यक्रम थे जो प्रात: ५॥ बजे से रात्रि ८ बजे तक चलते रहे। २८ फरवरी को सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर वक्ता थे डा. अशोककुमार बोरदिया, प्रा. (श्रीमती) निवेदिता गुप्ता, ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य, श्री ओमप्रकाश वर्मा, प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा तथा श्री सन्तोषकुमार झा, जिन्होंने क्रमश: 'पूर्व और पश्चिम के सेतु श्रीरामकृष्ण', 'नारी के मुक्तिमंत्र उद्गाता श्रीरामकृष्ण', 'सर्वधर्मस्वरूप श्रीरामकृष्ण', 'देवमानव श्रीरामकृष्ण', 'विनोदी श्रीरामकृष्ण' एवं 'आदर्श गुरु श्रीरामकृष्ण' पर अपने विचार व्यक्त किये।

आश्रम-कार्यकर्ताओं के अन्यत्र कार्यक्रम

स्वामी आत्मानन्द—गीता मन्दिर, नागपुर में २ से ५ दिसम्बर तक गीताजयन्ती के उपलक्ष में प्रवचन। ९ दिसम्बर को गोपाल-मन्दिर, रायपुर में गीताजयन्ती का कार्यक्रम। १४ से १६ दिसम्बर तक वर्ल्ड यूनियन पिपलानी, भोपाल के तत्त्वावधान में आयोजित वेदान्त सम्मेलन में ४ प्रवचन। १६ दिसम्बर को सिहोर के कृषि विद्यालय में 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' पर भाषण। उसी दिन पुन: वहीं के कला एवं विज्ञान महाविद्यालय में 'धर्म का प्रयोजन' पर व्याख्यान। उसी रात्रि एच. ई. एल. भोपाल के वेदान्त सम्मेलन में Applied Vedanta पर अँगरेजी में प्रवचन।

१ जनवरी को बिलासपुर में श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के तत्त्वावधान में 'कल्पतरु उत्सव'। उसी दिन वहीं श्री जगदीश-चन्द्र ऋषि के निवासस्थान पर 'आधुनिक युग में शान्ति की खोज' पर व्याख्यान। साथ में ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य और डा० अशोककुमार बोरदिया के भी भाषण। ९ जनवरी को सरकंडा बिलासपुर में 'श्रीरामकृष्ण देव' पर प्रवचन। उसी रात्रि 'गीता की भूमिका' पर प्रवचन। १० जनवरी को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा आयोजित 'मकर संक्रमण उत्सव' में भाग लिया। १२ जनवरी को लक्ष्मीनारायण कन्या शाला रायपुर के वार्षिकोत्सव का उद्घाटन किया। १७ जनवरी को भिलाई में गीता-प्रवचन। २१ जनवरी को बिलासपुर में विवेकानन्द-जन्मोत्सव मनाया गया जिसमें स्वामी चिदात्मानन्दजी प्रमुख अतिथि रहे और सभा की अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। २४ जनवरी को सरस्वती शिशु मन्दिर रायपुर के वार्षिकोत्सव का उद्घाटन किया।

१ फरवरी को बिलासपुर के सरस्वती शिशु मन्दिर के कार्य-क्रम में भाग लिया। उसी रात्रि स्वामीजी की अध्यक्षता में तथा स्वामी सत्यमित्रानन्दजी के प्रमुख अतिथित्व में सार्वजनिक धर्म-सभा हुई। २ से ८ फरवरी तक स्वामीजी के प्रवचन चिरमिरी, कोरिया, वैकुण्ठपुर और मनेन्द्रगढ़ आदि स्थानों में कु. सरोज-बाला के साथ होते रहे। १० फरवरी को वे जबलपुर में रामायण-समाज के तत्त्वावधान में आयोजित कार्यक्रम में 'तुलसीदास की समन्वय साधना' पर बोले। ११ फरवरी को तत्रस्थ योग मित्र मण्डल के प्रथम वार्षिकोत्सव का उद्घाटन किया। १२ फरवरी को स्थानीय रामकृष्ण आश्रम में 'साम्यवाद, धर्म और भारत' पर व्याख्यान दिया। १३ फरवरी को बिलासपुर में गीता-प्रवचन। १५ फरवरी को आन्तरभारती आश्रम, दाभा, नागपुर के प्रथम वार्षिकोत्सव में प्रमुख अतिथि रहे जिसकी अध्यक्षता

'नागपुर टाइम्स' के सम्पादक श्री अनन्त गोपाल शेवड़े ने की। २० और २१ को रामकृष्ण आश्रम इन्दौर के तत्त्वावधान में 'श्रीरामकृष्ण-आविर्भाव की अपूर्वता' तथा 'विज्ञान के युग में धर्म का प्रयोजन' विषय पर बोले। २२ और २३ फरवरी को नीमच के किलेश्वर महादेव मन्दिर में शिवरात्रि के उपलक्ष्य में तीन प्रवचन दिये।

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य——२१ दिसम्बर को अकलतरा में, २५ दिसम्बर को भिलाई में तथा ९ फरवरी को सनातन धर्म मन्दिर नन्दिनी माइन्स में प्रवचन हुए।

सन्तोषकुमार झा——११ दिसम्बर को अम्बा मन्दिर रायपुर में, १३ दिसम्बर को भिलाई में, १८ दिसम्बर को भानसोज में, तथा १० जनवरी और १४ फरवरी को भिलाई में प्रवचन हुए।

डा० अशोककुमार बोरडिया——३० जनवरी को क्रिश्चियन मिशन लिप्रोसी हास्पिटल, गातापार में तथा १६ फरवरी को मेडिकल कालेज, रायपुर में व्याख्यान हुआ।

रामकृष्ण मिशन समाचार

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत रामकृष्ण मठ और मिशन के अन्य केन्द्रों के संक्षिप्त प्रतिवेदन और सामाजिक समाचार प्रकाशित किये जायेंगे।)

रामकृष्ण मठ एवं मिशन, कामारपुकुर (हुगली)
(अप्रैल १९६७ से मार्च १९६८ की रिपोर्ट)

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पावन जन्मस्थान को सुरक्षित रखने के लिए १९४७ में श्रीरामकृष्ण संघ की यह शाखा स्थापित की गयी। इस आश्रम की ओर से दैनिक पूजा, धार्मिक उत्सव, सत्संग आदि का नियमित आयोजन होता रहता है। साथ ही जनता-जनार्दन की सेवा के लिए निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं——

धर्मार्थ औषधालय——आलोच्य वर्ष में कुल १५,२९० रोगियों की चिकित्सा की गयी।

शैक्षणिक कार्य—दो सीनियर बेसिक स्कूल–१४६ लड़के। दो जूनियर बेसिक स्कूल–२९७ लड़के, १४७ लड़कियाँ। प्रि. बेसिक स्कूल– ० लड़के। स्कूल-कम-कम्यूनिटी सेन्टर–२५ विद्यार्थी। बहुउद्देशीय उ. मा. विद्यालय–१७६ लड़के। संस्कृत पाठशाला–१७ विद्यार्थी। प्रि-व्होकेशनल ट्रेनिंग सेंटर–८१ लड़के

छात्रावास—इसमें १२५ विद्यार्थी थे।

ग्रन्थालय—यहां विभिन्न विषयों पर ४,६४५ पुस्तकें थीं

रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची

(अप्रैल १९६७ से मार्च १९६८ की रिपोर्ट)

राँची के मोराबादी मुहल्ले में प्रारम्भ किया गया य. आश्रम १९३० ई. में श्रीरामकृष्ण-संघ के अन्तर्भुक्त किया गया आश्रम की वर्तमान गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं—

धर्मार्थ औषधालय—कुल १०,६०० रोगियों का उपच किया गया। इनमें ७,०५३ रोगी नये थे। १,०८० रोगियों भोजन भी दिया गया। आसपास के आदिवासी गाँवों में औष। से सेवा करने हेतु एक मोबाइल (चल) औषधालय का संचाल भी किया जाता है।

ग्रन्थालय-वाचनालय—ग्रन्थालय में कुल १,७३३ पुस्तकें हैं वाचनालय में आनेवाले समाचार-पत्रों एवं नियतकालिकों कं संख्या २५ है।

धार्मिक कार्य—आश्रम में अवतारी पुरुषों की जयन्ती मनायी जाती है। समय समय पर विद्वानों के व्याख्यान भी आयोजित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, आश्रम में एवं अन्य कुछ स्थानों पर नियमित रूप से धार्मिक कक्षाएँ लगायी जाती हैं।

आलोच्य वर्ष में आश्रम की ओर से जरूरतमन्द लोगों की आर्थिक एवं अन्य प्रकार से भी सहायता की गयी। साम्प्रदायिक दंगों से पीड़ित लोगों को भी आश्रम की ओर से सहायता पहुँचायी गयी। उसी प्रकार बिहार प्रान्त में अकालपीड़ित लोगों के लिए जो सेवा-कार्य किये गये उनमें भी आश्रम ने भाग लिया।

■